साया कोई

हिन्दी ADDA

नीलाक्षी सिंह

साया कोई

स्त्री के बारे में प्रचलित था कि वह गिनती में एक थी। घर के कामकाज, लिपाई पुताई, सिलाई कढ़ाई से लेकर खेत की खुरपी गढ़ाई तक। एक चुटपुटिया औरत के तमाम लक्षण थे उसमें। वह न कभी थकी हुई पायी जाती न कभी उसके चेहरे पर

https://www.hindiadda.com/saya-koi/

सिकुड़न ही होती। सूई धागे से पूरा का पूरा पेटीकोट सिल डालना हो कि चावल को धोकर... सुखा कर जाँते में दरदरा कर, उसका आटा तैयार करना... घर गृहस्थी के सारे काम... उससे पनाह माँगते फिरते थे। इस कदर सुघड़ कि एक जगह मिला कर रख दिये गये सत्तू और बेसन में से दोनों अनाज साफ साफ अलगा कर रख दे एकदम से! विक्रमगंज वाली। छोटी सी काया, दुबली पतली देह और चिड़िया की फुर्ती। बस एक चीज थी जो उसके स्त्रीत्व पर... बल्कि कहें, अस्तित्व पर सवालिया निशान लगाती थी। समझदार प्राणियों की भाषा में...; जो सब किये कराये पर पानी फेर जाती थी। वही शाश्वत वंशबेल का सवाल। संतति, वंश, नयी पौध। स्त्री जिससे वंचित।

यानी कि दरअसल में जो हो रहा होता था... दिखता वह नहीं था। लोगों को दिखता कि घर को बुहारने वाली औरत। पर होता यह कि खुद वह ही झाड़ू से सिमटा कर घर के कोने और फिर घूरे पर पहुँच रही होती। सबको लगता कि जूठे बरतन चमका चमका कर एक तरफ रख रहे हाथ उसके; पर दरअसल बरतन धुल चुकने के बाद पनियाये विम बार की मुँडेर पर स्कॉच ब्राइट के गेटअप में औंधे मुँह छितरायी होती वही। मूसल को धमाधम चलाते जाने वाले हाथ उसके हैं... ऐसा प्रतीत होता लोगों को... पर ठीक उसी वक्त दरअसल ओखल के भीतर वह स्वयं होती। अलग से बताने की जरूरत नहीं कि भ्रमित लोगों की जमात में खुद वह भी शामिल थी। बड़ी सहूलियत से उसे कोने में सलटा दिया गया था, जहाँ से मशीनी अवतरण ले वह घरभर के छोटे बड़े काम करती और फिर जाकर अपनी जगह में फिट हो जाती। इस जगतमान्य चक्र से, समेत उसके, किसी को कोई एतराज न था और धुरी का ऐसे ही चलते जाना तय था कि एक दिन अचानक वाला तत्व हरकत में आया... और उसका नाम उछल गया - गाँव में पहली बार होने वाले पंचायत चुनाव में मुखिया पद की उम्मीदवारी के लिए।

ऐसा नहीं था कि एक भरे पूरे उपजाऊ गाँव में एक वही योग्य बची थी जिसे कि दबी जुबान में लोग निरबंसी कहते थे। इस पूरे प्रकरण में हाथ बहुत सारे महीन तत्वों का था, जिन्होंने दरअसल, 'अचानक' के कंधे पर रख कर बंदूक चलायी थी, पर जिक्र उनका बाद में। पहले स्त्री के पति की बात।

पति जो था, वह सच्चे मायने में उसका हमसफर था। उन दोनों में अघोषित समझौते जैसा यह कि स्त्री एक कोने में होती तो वह हाशिये का दूसरा कोना हथियाये होता। यह संयोग ही था... निरा संयोग कि उसने अपनी पैदाइश के लिए

उस दिन को चुना था, जिसे लोगबाग शताब्दी का सबसे घटनारहित दिन करार दे रहे थे। चूँकि उसका वर्तमान आकर्षणविहीन था, उसके चरित्र की बारीक समझ के लिए थोड़ा पीछे तक की यात्रा करनी होगी और एक अदद किरदार को कब्र से हिलाना होगा। उसकी जननी चमकी देवी।

छह अप्रैल उन्नीस सौ तीस। जब गांधी बाबा मुट्ठीभर नमक उठा कर नमक कानून तोड़ रहे थे, तभी दादी की चुटकी से झर रहे नमक के मुँह तक पहुँचने के पहले ही मुड़ गयी नवजात गुलाबी गरदन ने आते ही सविनय अवज्ञा आंदोलन में शिरकत कर ली थी। और इस तरह नवजात चमकी देवी, जाते जाते बच गयीं। भारत छोड़ो आंदोलन का आगाज होते ही चमकी देवी को नैहर छुड़ा कर इस घर के माथे पर ठोंक दिया गया और उन्होंने आते ही अपनी क्रांतिकारी गतिविधियों के कारण तुरतफुरत कई उपनाम बटोर लिए नये घर में। कुटनी, घरफोड़न, लुत्ती... वगैरह वगैरह। होना क्या था... सन् सैंतालिस आते न आते पाँच भाइयों वाले संयुक्त घर से एक एक कर सबको खदेड़ भगाया गया और चमकी देवी ने खींच कर आजाद हवा में साँसें लीं। तब से चमकी देवी एक दो अपवादों को छोड़ कर, देश को उसकी आजादी की हर वर्षगाँठ पर, एक एक बच्चे जन कर सलामी ठोंकती आयीं। बच्चे हड़बड़ी में नीचे आते और ऊहापोह में वापस लौट जाते। चमकी देवी रोती पीटतीं फिर दूसरी वर्षगाँठ की तैयारी में लग जातीं।

ग्यारह भाई बहनों की मानव श्रृंखला पूरी हो चुकने पर मृत और जीवित संतानों का अनुपात नौ और दो रहा। दो की जमात में शामिल - एक आखिरी संतान और एक वर्षगाँठ से थोड़ी हेर फेर में उत्पन्न - **11** अप्रैल **1954** की पैदाइश। इस छठी संतान ने उस स्त्री के नाम को उसके व्यक्तित्व में ढाल दिया। दुनिया को आज की तारीख में **11** अप्रैल **1954** को लेकर जो भी बकवास करनी है करती रहे, पर उस स्त्री के हिस्से का सच यह था कि पुत्र के जन्म की तारीख से ही सही मायने में उसके जीवन में घटनाओं ने घटना शुरू किया था। चमकी देवी ने अपने इस पुत्र के कमर में जंतरों का गट्ठर बाँध कर उसे टोले मुहल्ले की नजर से सुरक्षित किया और बेटा उनका - बिंदास बढ़ने लगा।

जब वह आठवें दर्जे के द्वार को फतह करने के क्रम में बार बार घोड़े समेत पीठ के बल गिर रहा था और उम्र के द्वार बगैर मशक्कत ही पार पर पार हुए चले जा रहे थे - बात उन्हीं दिनों की। चमकी देवी युद्धरत पुत्र पर बारी बारी जातीं और घनघोर मेहनत में लीन उनके पुत्र के दिमाग पर ज्यादा जोर न पड़े... इस प्रयास में उसे थोड़ी

रूमानी दुनिया तक ले जाने के लिए इतरा कर पूछ बैठतीं कि कैसी बहुरिया ढूँढ़ के लायी जाये उसके लिए! पुत्र का रोम रोम ऐसे सवालों से झनझना उठता और रेडीमेड जवाब उसके हाथ की किताब के पन्नों के बीच से उझक जाता, जहाँ से राम कृष्ण पर आधारित अपने धार्मिक नाम से भ्रमित करने वाली एक फिल्म की नायिका, होंठों से 'बीड़ी' टिकाये 'दम मारने' की हिदायत देती... मदमयी आँखों से ताक रही होती। गौर करने की बात है कि स्वतंत्रता आंदोलन की कहानी से चमकी देवी के इतिहास ने हमेशा ट्यून मिलाये रखा था, पर फिर भी ख्याल उनके गुलाम ही थे। जाहिर है इस रेडीमेड जवाब से उनके जिगर को झटका लगता जोर का, पर पुत्रमोह - और वह भी जब मृत जीवित का अनुपात ऐसा बेदर्द हो - एक बड़ी चीज है। वह झेंप कर रह जातीं और यह अहसास हो जाता उन्हें कि उनके प्रयासों से ज्यादा रूमानी सामग्रियाँ पुत्र की किताबों में पहले से मौजूद थीं।

बेटा उनका आठवीं पास कर सका कि नहीं यह बात गैरजरूरी। जरूरी यहाँ यह कि 'जन्नत से उतरी चीज' की जगह घर में जो स्त्री, कहें बालिका उतरी, उसकी शक्ल निहायत ही पोंछा बरतन किस्म की थी। छोटा चेहरा... ऊँचा मसूड़ा... मिची मिची आँखें... इतना काफी। चमकी देवी इस तुषारापाती आगंतुक से आरंभिक क्षणों में विचलित तो हुईं, पर वक्त ने बारीक पटायी करने में ज्यादा नहीं खरचा अपने आप को। जुबान की वे चाहें लाख तर्रार हों, यह मानने में ज्यादा समय नहीं लगा कि स्त्री घर में ऐसी आनी चाहिए, जो काम काज में चोखी हो... घूँघट के पीछे की शक्ल देखता कौन है और बाकी की चीजें तो हर औरत में एक समान आदि आदि..। कालांतर में उन्हें लगा कि सुकूनदायक बुढ़ापे का टिकट हाथ लग गया पर चूक यहीं हो गयी। चूक उनसे हुई हो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वाकई बहुरिया में बाकी की चीजें तो दूसरी औरतों जैसी ही थीं; पर बेटे में ही कुछ कमी रह गयी कहीं शायद!

गाँव के लड़ाई झगड़े में जब 'निरबंसा निरबंसी' शब्दों का बेदर्द प्रयोग होता तो उनकी लपलपाती जुबान मुँह के भीतर छटपटा कर रह जाती प्रतिउत्तर के लिए। हालाँकि चमकी देवी प्रतिपक्षी की कोई न कोई दुखती रग तत्काल तलाश कर उसे सरेआम बेइज्जत कर डालने में बिला नागा सफल होतीं, पर एक फाँस रह जाती मन में। ये बोझ लिए स्वतंत्रता दिवस की पचासवीं वर्षगाँठ के आस पास ही कभी... चुपचाप बिना खबर वे नेपथ्य में खिसक गयीं। उनके शासनकाल में ही उन सी चमक दमक वाले एक दूसरे पात्र को परदे के पीछे फलने फूलने का पर्याप्त मौका मिला, जिसने

कि बिल्कुल भी वक्त नहीं गँवाया उनके जाने से उत्पन्न हुए सन्नाटे को भर डालने में। चमकी देवी की ही दूसरी (आखिरी) संतान!

उसका चेहरा शाश्वत रूप से सूजा था - ऐसा कह सकते हैं। पूर्व में वह दुबली छरहरी नरमजान हुआ करती थी, पर उम्र और उससे भी ज्यादा महत्वाकांक्षा ने उसे मधुमक्खी के छत्ते की शिकार स्त्री में तब्दील कर दिया था। उसके किरदार की संभावनाएँ तब प्रकाश में आयीं, जब साबित होते होते यह जाहिरा तौर पर साबित हो गया कि उसके भाई, यानी कि चमकी देवी की पहली संतान के परिवार के बढ़ने की संभावनाएँ क्षीण हैं। कठोर शब्दों में - नगण्य हैं। इसी समय अपने निठल्ले पति और दो संतानों के साथ वह घर के भूगोल और इतिहास में एक ही प्रयास में आकर फिट हो गयी। गाँव के महीन टीकाकारों का मत है कि इन सबमें बेटी से ज्यादा माँ के खुराफाती दिमाग की भूमिका थी। बहरहाल डोली में चढ़ कर घर से एक बार विदा हो चुकने के बाद दुबारे उसने प्रवेश किया था सहमी सकुची लता बन कर, पर देखते देखते (असल में बिना किसी को दिखाई दिये) उसने विक्रमगंज वाली और **11** अप्रैल **1954** को आँगन के एक एक कोने में सलटा दिया और अपने शाख प्रशाख फैला कर घर में सपति ससंतान शोभा पाने लगी।

समय बीतने पर चमकी देवी के पलायन को उसने आँचल में लपक लिया और घोषित अघोषित रूप से घर की प्रधानमंत्री बन बैठी, ऐसी प्रधानमंत्री, जिसके कि हाथों में गृह और विदेश प्रभार की अतिरिक्त जिम्मेवारी भी हो! उसके शातिर दिमाग, कुटिल रणनीति और बेशर्म मुँहजोरी के कारण घर के सामाजिक रुतबे में कोई कमी कहीं से भी नहीं आयी। उसके पास गाँव के हर घर के नब्ज की दुखती रग की खबर थी। गाँव में घटित होने वाले किसी भी संभावित चक्कर को वह घटने के पहले ही सूँघ लेती और किसी भी अनैतिक रिश्ते का जर्रा जर्रा ब्यौरा था उसके पास। इसी वजह से जनाने मर्दाने सब खौफ खाते थे उससे। पर कहते हैं न चिराग तले अँधेरा! यही थ्योरी यहाँ भी। दुनिया जहान के काले पीले कारनामों की खबर रखने वाली खुद अपने पार्श्व के रंगों से बेखबर (?) थी। उसकी उड़ती चिड़िया के पर गिनने की काबिलियत पर प्रश्नचिह्न लगाने वाला और कोई नहीं, खुद उसके साथ आयातित प्राणी था - पति उसका।

उसके पति का इंसानों की उस दुर्लभ प्रजाति से संबंध था, जिसमें बंजर से बंजर जमीन पर आबाद हो जाने की अद्भुत क्षमता हो! यह भी सच है कि 'श्रेय' तत्व से वह सदैव वंचित रहा। ज्यादा आगे पीछे क्या जाना! एक टटका उद्धरण सामने है।

जो पंक्तियाँ उसकी पत्नी - मधुमक्खी के छत्ते की शिकार स्त्री के सम्मान में कही गयीं, दरअसल उस पर मालिकाना हक इस अजूबे शख्स का ही बनता था। एक मामूली लतर के वट वृक्षांतरण का जो दमखम उसकी पत्नी के आँचल से बँधता था, उसकी वायवीय जड़ें दरअसल इस शख्स के हुनर पर टिकी थीं। नाइंसाफी की इंतिहा यह थी कि जहाँ अन्य सभी सदस्यों ने अपने अपने लिए एक खास विशेषण छेंक रखा था, इस व्यक्ति के खाते में उस तक के लाले थे। माँ बाप का दिया नाम भी ऐसा खर पतवार सदृश था कि उसे ढोते जाने का कंधे के दर्द से ज्यादा कोई भविष्य न था। वजह यही कि उसे भी वह अपने मायके में ही छोड़ आया था। बिना किसी नाम के किसी का गुजारा क्या चले, इसलिए रोजमर्रा के काम चलाने के लिए उसे एक हल्के कद का विशेषण मिला - मेहमान। और कालांतर में गाँव समाज में वह इसी नाम से जाना जाने लगा।

उसके ज्यादा पढ़े लिखे होने का दावा तो नहीं किया जा सकता था, पर इतना जरूर था कि नेपोलियन की डिक्शनरी उसके हाथ लग गयी थी। पूरी डिक्शनरी पढ़ने का समय किसके पास था, लिहाजा उसने उसके निचोड़ को आत्मसात कर लिया था और अब उसके लिए भी 'असंभव' शब्द का कोई अस्तित्व न था। इस संसार प्रसिद्ध सार को पा लेने के उसके दो मूलमंत्र थे। एक तो यह कि अपने व्यक्तित्व को इस दर्जे तक लचीला बना लिया जाये कि उसकी भंगुरता समाप्तप्राय हो उठे। यानी कि बेशर्मी की हद को इस तरह आगे पीछे खींच दिया जाये कि कोई सीमा बचे ही न... और दूसरी ये कि डुबकी लगाने का ऐसा हुनर पा लिया जाये कि स्त्रियों के गढ़ के अभेद्य से अभेद्य किले का भेदन करना चुटकियों का खेल हो चले। चूँकि ये गुण सुप्तप्राय अवस्था में थे कहीं उसके भीतर...; उसे ज्यादा माथापच्ची नहीं करनी पड़ी। बस रियाज और फोकस। फोकस और रियाज।

जैसा कि कहते हैं - हिम्मते मर्दां... आदि आदि...। पहले इधर उधर जिधर किधर निठल्ले भटकने वाले के हाथ मोबाइल फोनों की मरम्मती का गुर क्या आया... कंधे को एक तरफ झुकाये घूमते फिरने वाली नस्ल के जमाने में, उसकी माँग में उछाल आ गया। लोगों के घरों में मोबाइल मरम्मती या कि मुफ्त की जानकारी के बहाने मर्दों के बीच बैठक से अकड़ कर दाखिल होना और औरतों की बतकही से टकराते हुए पिछवाड़े से हौले से निकल जाना... उसके लिए एक सहज आदत में तब्दील हो गया। यानी कि घरों के पेट की सारी अतंड़ियाँ उसके लिए बेपर्दा थीं। लीजिए एक और बात उजागर हुई कि मधुमक्खी के छत्ते की शिकार स्त्री के खाते में दर्ज 'किसी भी संभावित चक्कर को घटने के पहले ही सूँघ लेने' की क्षमता का क्रेडिट भी किसी और

को जाता था। पर देखा जाये तो मंत्री की सफलता उसके अधीनस्थों की चौकसी पर ही निर्भर है। शायद इसीलिए मुद्दा ये नहीं था कि कौन क्या करता था... बस तथ्य था तो यह कि वे दोनों सफल थे।

अपनी काबिलियत उधार में देकर उस स्त्री के पति ने उस स्त्री से एक सौदा किया था। यही कि स्त्री चिराग बनी उस पर राज करती रहे और बदले में उसे अँधेरा बनने की छूट दे दे! तो ऐसा ही। स्त्री ने अनभिज्ञता की चादर ओढ़ ली थी और आगे... उसके नीचे अब अँधेरे का साम्राज्य था।

ऐसे व्यावहारिक गुणों से लैस माता पिता की संतानों के लिए संभावनाओं ने अपने द्वार बचपन से ही खोल रखे थे। कुमारी जूही ने अपने भोंदे दिमाग के बावजूद मेहनत में कोई कसर नहीं छोड़ी और अभ्यास करते करते पत्थर पर निशान बना देने के मुहावरे को अपना गुरुमंत्र बना कर आवृतिजनित पढ़ाई पर विशेष ध्यान देना प्रारंभ किया। गणित की पुस्तक सामने खोल कर उसमें तीन और तेरह को जोड़ने से प्राप्त होने वाले अंकों को भरने के लिए जो वर्ग बनाया रहता, उसे वह बड़े मनोयोग से रटती - तीन जोड़ तेरह बराबर डिब्बा...! ये सूक्ष्म घटनाएँ उसके उज्ज्वल भविष्य की ओर साफ इशारा कर रहीं थीं।

लड़का था जहीन। बालपन से ही उसकी आँखें धूलप्रूफ थीं। वह घनघोर स्वाभिमानी था और उसका बस चलता तो वह एक ढेला तक नहीं लेता अपने माता पिता से विरासत में, पर निर्माण के निहायत आरंभिक चरण में ही उसे एक एक गुण मिल गये थे जनक जननी के। माँ से उसे 'चारित्रिक' दृढ़ता मिली थी तो पिता से नजर का पैनापन। जननी का तो नहीं कह सकते, पर जनक को जरूर अपनी दानशीलता पर अफसोस हुआ होगा। देना तो फिर भी मान्य! आखिर माँ बाप की विरासत संतान को ही न मिले तो मिले किसे! पर जब भस्मासुर का उदाहरण सामने था, तब देने के लिए ऐसी मारक चीज का चयन अक्षम्य था। फिर भी। तीर तो अब निकल चुका था। तो बच्चा आर या पार में यकीन रखता था। मध्यम मार्ग का कॉन्सेप्ट नहीं था कोई उसके पास। मधुमक्खी के छत्ते की शिकार स्त्री में वह अपनी प्रतिद्वंद्वी को देखता था, इसलिए वह उसके साथ एक शीत दूरी का निर्वाह कर लिया करता था।

बोलता वह बेहद कम था पर उसकी ठंढी नजरों के उतार चढ़ाव से ही घर में हरकतों का संचालन होता था। हुआ करे मंत्रालय का बँटवारा जिस किसी में... रिमोट उसके हाथ में था - यही सच के सबसे करीब मामला।

घर की यही साजोसज्जा थी। यही आधा दर्जन जीवित किरदार। एक नियमित ढर्रे की चाल। कि घर में एक सेंधमारी हुई। जाहिर है बाहर से।

गाँव में एक पंडित हुआ करता था। अन्य पंडितों से भिन्न इसकी खासियत यह थी कि न तो इसका पूजापाठ से साबका था, न धोती या मुँड़े सिर पर टीका जैसी कोई विलक्षण विशेषता थी इसकी और न तो जाति से ही यह ब्राह्मन था। कोई वजह न थी कि उसे पंडित कहा जाये। फिर भी लोगों ने मान लिया तो मान लिया। काला चश्मा, घिसा सफारी सूट, हवाई चप्पल और एवन साइकिल। दिनचर्या में बाकी की सारी चीजें चलायमान थीं, सिवाय इनके।

पंडित कुँवारा था। हाट में सब्जियाँ मोलाते वक्त 'कटहल थोड़ा अज्जू है का करें...' या 'पुदीने की चटनी के लिए अमरा भी लें का'... जैसे बेसिक सवालों का उत्तर जानने के लिए किसी से संवाद की आकस्मिकता का स्कोप नहीं था, पर हाथ में उसके, गुजरे जमाने का नोकिया : पचपन सौ दस, हमेशा कमर कसे तैनात रहता था। चूँकि बीते जमाने की गतयौवना - इस सुपरस्टार के महीन मर्जों की दवा सभी दुकानों में मौजूद न थी और कुछ कलाकार किस्म के पारखियों का हुनर ही इसकी नब्ज पकड़ सकता था और चूँकि इलाके में बस एक ही था नाजुक नखरों का सर्वमान्य हकीम...; इसलिए यही सूत्र बन गया पंडित के इस जजमानी में दाखिले का। पुख्ता दाखिले का।

वे दिन थे जबकि हेलमेल गरदन तक पहुँचा ही था, पंडित ने आँगन के पारिवारिक मजमे में विक्रमगंजवाली के हाथों की चाय सुरकते सुरकते पंचायत चुनावों में उसकी उम्मीदवारी का चुग्गा फेंक दिया। बात बेहद हल्के तरीके से कही गयी थी, जिसकी नियति उसके प्रणेता ने हल्की चुहल... सामूहिक ठट्ठे और घर की बहू के लजा जाने तक निर्धारित की थी। एक गुदगुदीभरी छेड़छाड़ तक... जिस पर गाँव के चिर कुँवारे देवर का अधिकार बनता है। और वाकई लगा कि हुआ भी ऐसा और बात थोड़ी दूर उछल कर फिसफिसा गयी। धूप की तुर्शी से महरूम... मुसमुसा पलीता... जो चिनगारी से किसी तयशुदा अप्वाइंटमेंट के बगैर मिला और जिसने दो कदम घिसट कर दम तोड़ दिया... जरूर... पर जो सुलगता रहा... जोर का ठहाका लगाने वाले कुछ प्राणियों के भीतर।

सबसे पहले बात मधुमक्खी के छत्ते की शिकार स्त्री की, जिसके मन में इस चलताऊ परिहास से विशुद्ध ननदसुलभ ईर्ष्या जागी। मजाक में ही सही, पर मुखिया पद की उम्मीदवारी उसके उपस्थित होने के बावजूद, किसी और के पास गयी कैसे... यह सोच कर उसे मुँहझौंसे पंडित पर तीव्र कोफ्त हुई! बिल्कुल गलत बात कि कुछ सुलगता रहा... जोर का ठहाका लगाने वाले प्राणियों के भीतर। दरअसल वह तो उस घड़ी भी उपेक्षा से खिसियानी मुस्कान भर मार कर रह गयी थी... जब बात कही जा रही थी। उसके मन में आ रहा था बार बार पंडित के जा चुकने के बाद, कि वह बात को एक बार जिंदा करे सबके सामने और फिर वापस कुचल कर वहीं के वहीं, उसे उसकी औकात बता दे। वह कर सकती थी ऐसा बड़ी सफाई से। पर एक दूसरी बात भी थी कि अगर पहली बार में किसी ने उस बात को गंभीरता से लिया ही न हो, तब उसे दुबारा जीवित करना, फिर से मार डालने के लिए ही सही, चूक का सबब बन सकता था! जो भी हो पंडित से एक रत्ती ज्यादा क्रोध उसे अपने पति पर आ रहा था। क्या जरूरत थी एक मुँहफटे पंडित को इतना सिर चढ़ाने की कि वह घर तक आ घुसे... अपने ऐसे समीकरण-तोड़ बयानों समेत।

मेहमान नाम से ख्यात व्यक्ति, उस परिहास में दिल से शामिल हो गया था उस घड़ी। सबसे जोर की खीं... उसकी ही थी, इस पर कोई विवाद न था। भले ही उसे गाँव की नागरिकता प्राप्त न हो पायी थी उस वक्त तक, पर था वह जिम्मेदार नागरिक। हर टोला टपरी में निर्बाध रूप से आना जाना सुलभ हो पाने के कारण चुनावी समीकरणों पर आरंभिक चरण से ही उसकी नजर थी। चूँकि वह अपने को इस मामले का विशेषज्ञ मानता था..., इसलिए इससे संबंध रखने वाले तमाम ठट्ठा चुहल पर सबसे जोर से हँसने का हक बनता था उसका। एक हल्की सी हूक भी थी मन में कि काश उसके दिमाग में यह शगूफा आया होता और उस वक्त उसे महफिल लूट लेने का मौका मिलता। पर जैसा कि किसी भी गर्द को उड़ा देने में वह माहिर था (लाज... फटकार... असफलता... गर्द की बिरादरी चाहे जो भी हो), इस बार भी वह हँसी के पूरी होते होते सब कुछ भूल गया और एक बार फिर से ठठा कर हँसता चला गया।

11 अप्रैल **1954** में एक खासियत थी। उसके शरीर के रोओं में सुरसुरी होने लगती जब उसकी स्त्री को कोई छेड़ता। पत्नी के साथ किया गया मजाक उसके लिए आनंद का चरम होता। उसे एकदम कोई सरोकार नहीं था इस बात से कि चुहल के विषय का कोई दूरगामी लघुगामी परिणाम था भी कि नहीं। उसके लिए बस इतना सत्य था कि मजाक हुआ...। बाकी... बगैर आवाज निकाले, शरीर को कुदा कुदा कर हँसने की

कला में वह माहिर था। उसने आँखों की कोर से देखा, बीवी उसकी लजा कर लाल पड़ गयी थी। चमड़ी तो थी ही उसकी मुलायम और गोरी...। शुरू शुरू में जब ब्याह कर आयी थी तो छोटा चेहरा, ऊँचा मसूड़ा, मिची आँखें और बात बात पर लजा कर लाल पड़ते रंग वाली पत्नी में उसे वनमानुषी की छवि दिख जाती थी और मन लिजलिजा जाता था उसका। पर अब वह जान गया था कि शर्म में पड़ी हुई स्त्री का चित्र ऐसा ही होता है। वह चाहता था कि ठहाके के थम जाने पर भी बात ये... इतनी मीठी... जाने न पाये दृश्य से। कोई और छूटते सिरे को पकड़ कर रोक ही ले उसे... जाने न दे बात को। वह इंतजार करता रह गया... बात के पीछे दूसरी बातों के रेले के बीच भी। चूँकि आदतन उसका सारा फोकस इंतजार पर था, इसलिए स्वयं प्रयास वाले विकल्प की ओर उसका ध्यान गया ही नहीं...।

विक्रमगंज वाली के नाम से जानी जाने वाली स्त्री, बात के कहे जाने के वक्त मोढ़े पर बैठी आटा गूँथ रही थी। उसके बाद उसे चल कर चूल्हे तक जाना था और भुन चुकी तरकारी में पानी डाल कर कढ़ाई को ढँक देना था। उसके बाद उसे सबकी जूठी प्यालियाँ आँगन से समेट कर आँगन के कोने वाले चापाकल के पास रख देना था। तरकारी बन जाये फिर कढ़ाई के साथ इकट्ठा बरतनों को धोना..., रोटियाँ सिंक जाने के बाद का एजेंडा था। फिर सुबह के नाश्ते की सब्जियाँ काट लेना था। तब तक सबके खाने का वक्त हो जाता। फिर बरतन...

मान लिया जाये कि पंजाब की पाँचों नदियों की तर्ज पर गाँव में भी पाँच कुएँ हों, और जिनके कि पानी में रातोंरात खुमार मिला दिया गया हो और यह भी मान लिया जाये कि सुबह सबेरे सभी किस्म के बच्चे बूढ़े और जवानों ने चापाकल के पानी को त्याग कर सेवन किया हो सिर्फ उसी पानी का। ...तो रातोंरात के परिश्रम से गाँव तैयार था। लोकतंत्र के स्थानीय पर्व के लिए। चूँकि इस दृश्य संरचना को बहुत सारी काल्पनिक मान्यताओं का समर्थन था और योजना फूलप्रूफ थी, इसलिए ऐसा सामूहिक उत्साह... और हिस्सेदारी फैली माहौल में कि गाँव में कार्तिक पूर्णिमा के दिन से आरंभ होने वाला एक मास का सालाना मेला ही बस उससे जरा मरा टक्कर ले पाता।

इसी समय (और पंडित की चुहल वाले एपीसोड के ठीक दो दिन बाद) एक रोजमर्रे से थोड़ी हट कर घटने वाली घटना हुई। विक्रमगंज समेत अगल बगल के पाँच सात गाँवों के बीच एक अकेला बैंक हुआ करता था। बैंक की उस शाखा ने किसी 'बैंक का अपना गाँव' योजना के अंतर्गत उस गाँव को 'गोद' ले रखा था। खानापूर्ति के लिए ही

सही, भूले बिसरे कुछ सामाजिक कार्यकलाप हुआ करते थे गाँव के एक खाली पड़े कमरे में। यह कमरा, आम दिनों में गाँव के तमाम नशा के शौकीनों का मान्यताप्राप्त अड्डा हुआ करता था और खास दिनों में वहाँ बैंक के लोग 'किसान क्लब - सौजन्य, भारतीय स्टेट बैंक' का बोर्ड लगा कर अपना आध पौन घंटे का कार्यक्रम निबटा लिया करते थे। एक समोसा, एक मिठाई और थोड़ी टहलबाजी का स्कोप-सम्मानजनक भीड़ जमा कर सकने का इतना सब इंतजाम था। यह तो रहा हर बार का ब्यौरा। पर उस बार के ऐसे कार्यक्रम की खासियत एक कौतूहल थी। बैंक में एक नयी उम्र की मैनेजर का तबादला हुआ उस जगह, जिसने बैंक जैसी शुष्क जगह में चुंबकत्व का गुण भर दिया था।

किसान क्लब का आयोजन होना था और गाँव भर के होनहार भिड़ गये। दरबों... बिलों में से औरतों को निकाल कर आयोजन स्थल तक पहुँचा दिया गया था... कारण कि जलसे को 'मैनेजर मैडम' संबोधित करने वाली थीं। लाल पीली हरी औरतें ... रोते गाते बच्चों समेत। युवक तो खैर थे ही। यह जानते हुए भी कि ऐसी रिकार्डतोड़ भीड़ में साबुत समोसा मिठाई हाथों तक नहीं आने वाली इस दफे, गाँव के बुजुर्गवार भी खिंचे चले आये थे।

खैर किसी को भी उतनी धूप में आना खला नहीं, जब लोगों ने देखा कि एक कच्ची उम्र की लड़की ने माइक सँभाल लिया और धाराप्रवाह शुरू हो गयी। कानों में जो पड़ रहा था वह इतना भला लग रहा था कि आगे दिमाग तक नहीं जा पा रहा था। इसलिए द्वार छेंकाई की रस्म से मामला आगे नहीं बढ़ पा रहा था। बाकी की बातें तो आनी जानी थीं। पर एक बात जिसने जाने अनजाने किसी की किस्मत के ग्रह में उलटफेर कर दी वह थी तो पुरानी, पर उसे नये कलेवर में प्रस्तुत किया गया था। वक्ता ने अपनी एक पीड़ा लोगों से बाँटी जिसमें बकौल उसके, गाँव में आने के बाद बैंक द्वारा तय किये गये उसके रोल को निभाने के दरम्यान उसे सबसे ज्यादा तकलीफ तब होती थी जब पैसा निकालने आये किसी असाक्षर के बायें अँगूठे की छाप को अभिप्रमाणित करना होता था। उसने एक भावात्मक अपील की..., जिसमें कान के दुर्ग को भेद कर दिलोदिमाग तक पहुँचने का माद्दा था - क्या ऐसा नहीं हो सकता कि आप अपनी संतानों को विरासत में सिर्फ अपना अँगूठा न दें... बल्कि पाँचों उँगलियाँ दें, ताकि उन पाँच उँगलियों से आपके बच्चे कलम पकड़ कर अपना नाम लिख सकें... इसके लिए जरूरी है स्त्रियों का साक्षर होना...

इस वक्तव्य के ठीक बाद माइक से एक सवाल गूँजा जिसमें दसवीं तक साक्षर स्त्रियों की पड़ताल की गयी। लोगों की साँसें भी बेआवाज ही आ जा रही थीं। खामोशी पसरी... कि तभी एक बच्चा उठ कर खड़ा हो गया और उसने कहा - मेरी माँ नाइंथ पास है...

'माँ' यानी मधुमक्खी के छत्ते की शिकार स्त्री! नहीं। समाज के आलोक में यह बात सनद थी कि बच्चे द्वारा 'माँ' का संबोधन विक्रमगंज से विदा होकर आयी स्त्री के लिए था। इसलिए सबकी नजरों ने उसी को ढूँढ़ा जिसके ललाट घूँघट से ढके थे। उत्साही युवकों और पड़ोस की स्त्रियों के आग्रह पर वह 'मैनेजर मैडम' के सम्मान में उठ कर खड़ी भी हुई। विक्रमगंज वाली का खड़ा होना और उसके आँचल का ललाट से फिसल कर गरदन तक गिरना... एक टर्निंग प्वाइंट साबित हुआ, आगे घटने वाली घटनाओं के लिए! ...और पहले अपने सगे पति, फिर सगे पुत्र के हाथों ठगी गयी एक शाश्वत सूजे चेहरे वाली स्त्री ने आँखें मूँद लीं।

उसी शाम उसी जगह स्वर्गीय किसान क्लब के एक कोने में एक बैठक हुई, जिसमें दो ग्लास ठर्रा भीतर उतार चुके 11 अप्रैल 1954 को, पंडित जैसे कुछ पियक्कड़ों और एकाध सूटा चोरी छिपे मारने वाले मेहमान जैसे कुछ नॉन पियक्कड़ों ने राजी कर लिया... उस चुहल को गंभीरता का लिहाफ ओढ़ाने के लिए। आदमी हकला रहा था। नशे में नहीं बल्कि असमंजस में ...उसकी फूल सी वनमानुषी के पुरा पाषाणकालीन अविकसित कंधे 'समाज के विकास' का इतना वजनी दायित्व उठायेंगे कैसे...! पंडित के पास सुंदर सपने थे - 'भाई गाँव का विकास तो आपको सँभालना होगा भउजी तो खाली सपोट में रहेगी...' डॉट कॉम। आगे इस वेबसाइट पर असीम संभावनाएँ थीं...

मेहमान की पत्नी ने उस रात अपनी माँ को कोसा जिसने कि ओखल मूसल की जिम्मेवारी से उसे वंचित रखा था और उसके मन में यह भरोसा जागने न दिया था कि वह भी कर सकती थी कूटने का काम... वरना तो उस रात ओखल में उसका पति होता और मूसल को थामे वजनी हाथ उसके होते... मधुमक्खी के छत्ते की शिकार स्त्री के!

पर उसके पति ने भी पराश्रित जड़ को बरगद विशाल में तब्दील कर देने की कला का पेटेंट नहीं करवाया था तो क्या, उसकी बारीक कलाबाजियाँ अपने साथ रखी थीं। पंडित के बताये पते पर सबको राजी करने की चाभी थी। बात को बस थोड़ा सा एडिट

करना था... सीन में 'भाई' को 'पत्नी' से प्रतिस्थापित भर करना था... गाँव का विकास तो तुमको सँभालना होगा भउजी तुम्हारी तो खाली... आदि आदि।

देखा जाये तो इसके आगे किसी चीज की जरूरत भी नहीं थी। रात भर मधुमक्खी के छत्ते में बवाल मचा रहा। मधुमक्खियाँ न तो सोयीं न अपने से संबंध रखने वाले किसी और को सोने दिया। पर उस स्त्री के पार्श्व में सोये व्यक्ति पर कोई भिन... भिन.. कोई बवाल, बेअसर साबित हुआ और अपने पब्लिक रिलेशन में आने वाले संभावित उछाल की गुदगुदी को वह रात भर महसूसता रहा।

सुबह हुई। और एक स्त्री घिर गयी। घर के कामों के बीच नहीं, बल्कि 'खड़े हो जाने' की मनुहारों के बीच। एक तरफ जहाँ दूसरी रातों की तरह पिछली रात भी उसका पति नशे में था और किसी संवाद की कहीं गुंजायश नहीं थी, वहीं दूसरी तरफ मधुमक्खी वाला एपिसोड भी गुपचुप निबटा था। इसलिए वह स्त्री, जो कि विक्रमगंज से आयी थी... पूरी तरह अनभिज्ञ थी अपने सामने आने वाले प्रस्ताव से। घर के दो वयस्क पुरुष और एक परपुरुष उसे मनाने में जुटे थे। कोने में मधुमक्खी के छत्ते की शिकार स्त्री स्वीकृतिसूचक सीधी लकीर की तरह खड़ी थी। विक्रमगंज वाली अपनी रक्षा और समर्थन के लिए बार बार उसकी तरफ देख रही थी। दरअसल चमकी देवी के इहलोक गमन के बाद से ही वह अपनी (छोटी) ननद में अपनी सास को देखती आयी थी। उसे विश्वास था कि उसकी तरफ देखने पर एक प्रश्नवाचक चिह्न खड़ा मिलेगा, पर रात भर एक वेबसाइट की सर्फिंग ने उस सूजे चेहरे वाली स्त्री के व्यक्तित्व के प्रश्नवाचक घुमाव को सीधा कर उसे पूर्णविराम में तब्दील कर दिया था। यह बात और थी कि स्वीकृति की एक शांत मुस्कान ओढ़े खड़ी उस स्त्री के मन में ईर्ष्या, क्रोध और मौका मिलते ही एक एक को 'देख लेने' के भाव तीव्र आवृति में तरंगित हो रहे थे।

जैसा कि बात के एक बार निकल जाने पर उसके दूर तलक जाने का प्रावधान है... स्वीकृति, नामांकन, चुनावचिह्न, चुनाव प्रचार...। विक्रमगंज वाली के नाम से जानी जाने वाली एक स्त्री के कुँवारेपन का नाम अब जाकर प्रकाश में आया... और उसके नाम को 'देवी' प्रत्यय की आभा से चमका कर गाँव घर की दीवारों पर लगा दिया गया था। नौ क्लास तक विक्रमगंज से पढ़ लिख कर दाखिल हुई थी वह जगतपुर में। नौंवी क्लास का विद्यालय परित्यागपत्र, जिसमें सफेद रिबन से ऐंठ ऐंठ कर बाँधी गयी दो चोटियों वाली उसकी तस्वीर लगी थी और नौ जून उन्नीस सौ सड़सठ की जन्मतिथि अंकित थी..., अब विक्रमगंज से लायी उसकी सबसे अमूल्य धरोहर

साबित हो रही थी। चुनाव का नामांकनपत्र भरते वक्त बाकी की सारी उम्मीदवारों को वोटर कार्ड में अपना जन्मवर्ष तो मिल गया था, पर वे तीन सौ पैंसठ दिन के बीच में से अपनी जन्मतिथि खोजने में अउलाती बउलाती रही थीं। वहीं विक्रमगंज वाली के पास तारीख महीना समेत ब्यौरा मौजूद था और उसने सही या गलत अपने लिए एक अदद दिन छेंक रखा था।

मोतियों की माला! कुमारी जूही के लिए यह सब राज्यश्री प्रोडक्शन के एक उत्सवप्रधान सिनेमा की तरह था, जिसमें गणित अंग्रेजी भूगोल... जैसे किसी विलेन के लिए कोई रोल न था। सुबह शाम घर में लोगों की जमघट लगी रहती... मुँह बाकर सबकी बातें सुनने के अतिरिक्त भी एक अहम जिम्मेदारी थी उसके ऊपर, जिसके तहत उसे दिन भर रसोई से आँगन और दरवाजे तक चाय की सप्लाई करनी होती थी। अलावा इसके, घर के, रसोई के... बहुतेरे कामों की जिम्मेवारी भी उस पर आ गयी थी, कारण कि विक्रमगंज वाली स्त्री का ज्यादा वक्त बिसात की चाल समझने में लग रहा था। पर किसी की भी कसम, लड़की जरा भी न थकती थी... बल्कि जीवन इतना सुंदर कभी था ही न जैसे... वैसा कुछ कुछ। सब कुछ। बचे हुए समय में वह लोकप्रिय फिल्मी धुनों पर विक्रमगंज वाली को मिले चुनाव निशान - 'मोतियों की माला' के कसीदे गढ़ती। यानी कि जीवन का सूत्र वाक्य अब तीन जोड़ तेरह बराबर मोतियों की माला... था।

जिस स्त्री को धुरी बना कर घटनाएँ सारी घटी थीं उन दिनों..., वह घटनाओं को सुलझा कर देखने में अपने आप को असमर्थ पा रही थी। कभी कभी उसे लगता था कि वह अपने शरीर के भीतर से एक और रूप में बाहर निकल कर बैठ गयी है... दूर जाकर और वह वहीं से देख रही है कि लोग आ रहे हैं... समझा रहे हैं... लोगों की आवाजें आ रही हैं... - समाज का विकास... गाँव की खुशहाली... स्त्रियों का मान... कोई कहता है... याद है बैंक मैनेजर कहती थी... साक्षर औरत ही बच्चों का भविष्य बना सकती है... सरकार आरक्षण दे रही स्त्रियों को तो औरतें कदम बढ़ाने में हिचकिचाये क्यों... आदि आदि... - लोग आ रहे हैं ...समझा रहे हैं...। वह देख रही है अपने आप को समझाये जाते, समझते, समझ को कार्यान्वित करते और फिर बिस्तर पर निढाल पड़ते ही स्लेट से सब कुछ मिटा देते। फिर एक नया दिन... वही नासमझी... फिर लोगों का आना... फिर से वही चक्र।

अपने से दूर बैठ कर अपने आप को देखने से चीजें कितनी साफ दिखाई देती थीं! अपने झिझक और भय की वजह भी। पर सबसे बढ़ कर साफ जो चीज दिखाई दे रही थी वह थी बिस्तर पर निढाल पड़ चुकने के बाद पार्श्व में पड़े व्यक्ति की आँखों के सपने। थकान शरीर की तो तब भी कम न थी... उतनी ही जितनी कि घर के काम में पिसते जाने वाले दिनों में हुआ करती थी। पर अभी यह सुकून था कि सुबह से रात तक वह जो भी करती, उसमें पति साथ था।

हालाँकि कई कई बार हो चुकी मेडिकल जाँचों में यह बात स्पष्टतया प्रमाणित हो चुकी थी कि दोष उसमें नहीं था, फिर भी स्त्री अपने को वंश न बढ़ा पाने का एकमात्र दोषी मानती थी। कहीं ये भी सच था कि बगैर प्रतिवाद दिन रात अपने को चूल्हा बरतन में झोंक कर और अपने शरीर को एक पल के आराम तक से वंचित रख कर वह इसी बात का प्रायश्चित कर रही थी। वह प्राणप्रण से यह साबित करने पर भिड़ी हुई थी कि भले उसके कुछ पुर्जे बेकाबिल थे, पर एक मशीन के रूप में बिल्कुल उपयोगहीन नहीं थी वह।

कई बार ऐसा होता कि जब भी कोई वाक् प्रक्षेपास्त्र उसके पति की कमजोरी की ओर बढ़ता, वह बीच रास्ते उसे लपक कर अपने आप को घायल कर बैठती। तब तकलीफ की जगह उसे तसल्ली होती... अपने मुस्तैद होने की तसल्ली। कह सकते हैं कि अपराधबोध का रसायन इस घातक तरीके से उसके जेहन में फैल चुका था कि संतानहीनता की पीड़ा का कड़ुआपन फीका पड़ गया था उसके आगे। ऐसे में अब पति के कुछ सुंदर सपनों की वजह बन जाने का मौका अगर उसे मिल रहा था तो क्या उससे इनकार कर पाना संभव था! बिल्कुल नहीं। यह अहसास काफी होता... अब सब समझ आ जाता उसे झटपट और लोगों के समझाने पर सिर उसका, समझ गये जैसा डुलने लगता।

कुछ लोग बात को पी जाते हैं, बिना उसके कड़वेपन की परवाह किये। लेकिन पी जाना और पचा लेना अलग अलग बातें हैं। थोड़ा सा पीछे जायें तो इसी घर में एक सुबह ऐसी थी कि सूरज देवता के आसमान में छलकने के पहले जवाईं राजा के लिए होम मेड घी में बना हलवा, कढ़ाई से स्टील के कटोरे में उछल आता था... और एक सुबह ऐसी कि निठल्लेपन की भड़ास से लबरेज सास की गालियों से घरजवाईं की नींद हड़बड़ा कर खुल जाया करती थी। जवाईं राजा से घरजवाईं बनने का सफर

एकदम छोटा था... पर तब बात को पी लिया गया था। पर जैसा कि पीने और पचाने में फर्क है... कड़वापन छन्नी के ऊपर बचा था साबूत।

उस वक्त मेहमान के पास सिवाय पीते जाने के..., कोई चारा नहीं था। कारण कि रोजगार नहीं था उसके पास और पाँच भाइयों वाले अपने घर में जायदाद का हिस्सा जैसा विकल्प भी सीन से गायब था। तब उस स्थिति में पत्नी के इकलौते भाई की संतानहीनता ही वसीयत। वही एकमात्र ठौर।

निपट एकांत में कोई उसका सगा नहीं था, बल्कि वह किसी का सगा नहीं था। अपनी बेडौल काया की शक्की पत्नी से उसे बेइंतिहा नफरत थी और एक दिन जब ससुराल की सारी संपत्ति उसके नाम हो जाती तो सबसे पहले सात गाँव पार के कुएँ में अपनी पत्नी से मुक्ति पा लेना ...मुंगेरी लाल के हसीन सपनों में शुमार था। हालाँकि अभी भी उसकी फूलप्रूफ रासलीलाओं में पत्नी व्यवधान कहाँ बन पाती थी, पर फिर भी सूँघते जाने की आदत तो थी ही उसकी।

बहरहाल जैसी कि उम्मीद थी, इस चुनाव के परिदृश्य में वह सबसे चलफर कार्यकर्ताओं में से एक बन कर उभरा था। हालाँकि मर्दों के बीच उसका आधार क्षीण था पर औरतों के बीच तो उसकी साख गहरी थी। ये और बात थी कि औरतों के बीच साख का होना एक भ्रमोत्पादक तथ्य था। कारण कि औरतों को ऐन वक्त पर भी डंडे से हाँक कर कहीं का कहीं ले जाया जा सकता था। पर ऐसे भ्रम का शिकार वही हो सकता है, जिसे मेहमान नामक शख्स की काबिलियत पर कोई शुबहा हो। और यहाँ तो सभी उसके कायल थे। गाँव के हर मोबाइल पर रोज बिला नागा मोतियों की माला का बखान हो कि घर घर जाकर वोट की अपील... सारे मोर्चों पर वह मुस्तैद था। हालाँकि वह अपने पत्ते अंत तक बचा कर रखना चाहता था और अपने मताधार के साथ रातोंरात पाला बदल कर घर में सबको औकात बताने के कमसिन सपने भी आजकल मुंगेरी लाल को अलस्सुबह जगाने लगे थे...

पूरी गहमागहमी में दो शब्दों की टीआरपी में जबरदस्त उछाल आया था - समाज और विकास। समाज के लिए... विकास के लिए... समाज का विकास... विकास का समाज... कैसे भी घुमाफिरा कर बोला जाये... इनका अर्थ फीका नहीं पड़ रहा था।

सराफा बाजार में खैर मोतियों की चमक तो थी ही बरकरार। लोटा, साइकिल, मोमबत्ती और चॉकलेट ने भी कमोबेश धूम मचा रखी थी लोकप्रियता के मामले में। आरंभिक रुझानों से देखा जाये तो बाकी के तीन - दूधो नहाओ पूतो फलो दल

जमानत जब्ती की कगार पर थे और असल मुकाबला मुसमातिन वर्सेस निरबंसी था। लोटा बनाम मोतियों की माला। बात ये नहीं थी कि गाँव को उर्वरता से परहेज था। बल्कि कारण कुछ भीतरी थे। ज्यादा भीतरी भी नहीं कह सकते। मोतियों की माला का धागा नयी प्रकाश में आयी तथाकथित साक्षरता और शक्तिशालियों का पूँजी तंत्र था, तो लोटा के पीछे एक जाति विशेष की ताकत थी।

मधुमक्खी के छत्ते की शिकार स्त्री को अपने तयशुदा किरदार के खिलाफ चले जाना भारी पड़ रहा था कई बार। भविष्य के फायदे के लिए ऐसी छोटी बड़ी कीमतें रोज रोज अदा करना नागवार गुजर रहा था उस पर। अपने पति और बच्चों के साथ सुखपूर्वक रहने का विशुद्ध स्त्रियोचित सपना पालने वाली इस स्त्री की किस्मत का ग्राफ स्मूथ रहा हो ऐसा नहीं कह सकते। अपने गेटअप से सदैव आक्रामक दिखने वाली यह औरत कई भीतरी मोर्चों पर लिजलिजी थी। एक लड़ाई दरअसल हमेशा इसके विपरीत स्वभाव वाले ग्रह आपस में लड़ रहे थे, जिसने इस स्त्री को इतना शुष्क बना दिया था।

शुरू से नजर डालें तो ब्याह के पहले का सारा दुलार भाई के खाते में, शादी के बाद पति निकम्मा, ससुराल संभावनाहीन। फिर वक्त का पलटा खाना, वापस इस घर में आना, दुनिया जहान के ताने सुनना और फिर धीरे धीरे अपने आप को स्थापित कर लेना... - यह सब तो वह जो दुनिया देखती थी। पर एक अहम चीज जो वह देखती थी और देख देख कर घुलती जाती थी... और चाहती थी कि दुनिया जिसे न देखे..., वह थी उसके पति की हरकतें। बेवफाई उसे नहीं कह सकते। वह बड़ा शब्द था इनके रिश्ते के मुकाबिल। वह कट कर रह जाती जब उसे अहसास होता कि उसके न चाहने के बावजूद भी दुनिया उस चीज को साफ साफ देख लेती थी।

लेकिन फिर यहाँ ग्रहों की उलझन देखिए कि वह पति का त्याग करके एक सम्मानपूर्ण जीवन का या इस विकल्प को छोड़ कर पति का परमेश्वर के रूप में चयन भी नहीं कर सकती थी। पहले वाले का कारण कि सम्मान का आधार संपत्ति था और उस तक पहुँचने की बेबाध बुद्धि उस व्यक्ति के पास ही थी, जो उसके पति का किरदार निभा रहा था। दूसरे की वजह यह कि... दूसरे विकल्प का सवाल ही नहीं उठता था, क्योंकि पति इस लायक ही नहीं था कि उसके लिए किसी को भी छोड़ा जा सके। लब्बोलुआब यह कि जो जैसा था..., सबको साथ में ही लेकर उसे अपने सुंदर भविष्य की ओर सरकना था।

खैर यह तो चौबीसों घंटे का रोना था। उस वक्त की सबसे बड़ी उलझन यह थी कि अपनी अभी तक की रणनीति के खिलाफ जाकर उसे काम करना था। अब तक वह सूक्ष्म तरीके से दिन रात इस घर के वास्तविक मालिकों के आत्मविश्वास को तोड़ती आयी थी। निरबंसा और निरबंसी की जोड़ी को भीतर से इतना खोखला बना देना कि हर फैसले के लिए वे उसके मुहताज रहें - यह शाश्वत गेमप्लान हुआ करता था। अब चूँकि उनके सामूहिक लक्ष्य का आधार घर की चहारदीवारी से निकल कर समाज जितना विस्तृत हो गया था... रणनीति में भी कुछ उलटफेर हुए थे और संशोधित योजना के तहत घर के मामूली निर्णय कर पाने में भी असमर्थ बन गयी (बना दी गयी) विक्रमगंज वाली में इतना विश्वास भर देना था कि वह समाज के विकास की जिम्मेवारी उठा लेने के लिए खड़ी हो सके।

यानी कि मधुमक्खी के छत्ते की शिकार स्त्री अब तक जो करती आयी थी..., आगे उसे ठीक उसके उलट करना था। हालाँकि विश्वास भरते वक्त विक्रमगंज वाली के सामने यह भेद भी उजागर कर देना था अभी से कि उसे सिर्फ मुखौटा भर पहनना है। पर इस लुभावनी रियायत के साथ भी एक ठस गृहणी में तब्दील हो चुकी विक्रमगंज से आयातित स्त्री को बाहरी दुनिया से सामना के लिए तैयार करना मुश्किल होगा... ऐसा प्रतीत होता था... पर जैसा कि हर जगह उलटफेर का मौसम था..., यहाँ भी जो हुआ वह था संभावनाओं के उलट।

हल्के प्रयासों (वही दो चार दिन का मानमनौव्वल) से ही, नामांकन भरने के पहले अधेड़ गलियों में कदम रख रही स्त्री, चुनाव निशान आबंटित होने तक, हरियाली बन्नो में तब्दील हो गयी थी। घर के काम में पिली रहने वाली अब लोगों की उपस्थिति में हर बनती/बिगड़ती हुई रणनीति में बढ़ चढ़ कर हिस्सा लेने लगी। अब, जबकि उसका अपना नाम उजाले तक का सफर तय कर आया था, उसे समूहवाचक संज्ञा से हाँकना शब्दों की बरबादी। अब गाँव के कुछ मनचले युवक... जो नब्बे के दशक में बच्चे हुआ करते थे, उसे 'कि..कि..किरण' कहना चाहते पर 'देवी' का प्रताप आँखें गुर्रा कर उन्हें किरण देवी के धरातल पर ले आता था।

हालाँकि नौ तक वाली जगतमान्य पर्ची थी उसके पास, पर अभ्यास तत्व की कमी के कारण हाथ उसके, लिखने में थरथराते थे। स्वलिखित भाषण की पर्ची जब तैयार होती तो खूँटे के जैसे आड़े तिरछे शब्द गड़े होते सामने, पर चूँकि उसने अपनी चीजों से प्यार करना हालिया सीखा था..., उसे ये बनैले शब्द भी पालतू मालूम जान पड़ते थे। वह आईने के सामने खड़ी होकर बोलती - 'बहन भाइयो'...। बस आगे नहीं बढ़

पाती यहाँ से। इसी मुकाम पर अपने आप पर मुग्ध होकर वह भयानक ढंग से लजा जाती, यह अहसास होने के बावजूद भी कि आईना जब हकीकत से प्रतिस्थापित होगा तो लोगों की भीड़ के आगे भी वह इस दो शब्द को लाँघते लाँघते रुक जायेगी जरूर, लेकिन भय झिझक और विस्मरण के मारे। पर वर्तमान की पुलक, होनी की आशंकाओं पर भारी थी।

इस दूसरी (दरअसल पहली) स्त्री का इतनी तेजी से ग्रीनरूम से गेटअप बदल कर आ जाना, पहले वाली (दरअसल दूसरी) स्त्री के लिए मध्यम तीव्रता वाली चिंता का कारण बन जाता अक्सरहाँ। पर 'कि..कि..किरण' के घरेलूपन के पुराने ट्रैक रिकॉर्ड के मद्देनजर, मधुमक्खी के छत्ते की शिकार स्त्री, धीरज नाम की अदृश्य ताकत को जोर से पकड़ लेती। देखा जाये तो एक बार अपने गेमप्लान को बदल चुकने का फैसला कर लेने के बाद उसके पास चारा भी क्या बचता था!

तुमुल कोलाहल कलह में सर्वसम्मति से हृदय की बात का दर्जा प्राप्त... अँगूठा उँगली के भाषण वाली उस ऐतिहासिक किसान क्लब की सभा में वह भी उपस्थित थी। उस भाषण या कि सभा की एक भी बात उसके पल्ले नहीं आयी थी सिवाय इसके कि वहीं, उसी सभा से, उसे एक प्रतिद्वंद्वी मिल गयी थी! एक और सशक्त उम्मीदवारी उसी सभा से सामने आयी थी उस स्त्री के। उसे लोगबाग अतीत में चंदेसर बहू और अब मुसमातिन कहते थे और उसका चुनाव निशान लोटा था।

सुबह सूरज निकलने के पहले या शाम ढल चुकने के बाद मुँहअँधेरे निवृत्ति के समय हाथ में लेकर मैदान तक जाने या उसमें पानी भर कर घर के पुरुषों को जलापूर्ति कराने के अतिरिक्त भी लोटे की कोई भूमिका हो सकती है... या कि उम्र के इस पड़ाव पर यह लोटा जीवन में ऐसे उलटफेर का प्रतीक बन सकता है... यह उसने या उस जैसी किसी स्त्री ने कभी सपने में भी न सोचा होगा। वैसे सपने में क्या... हकीकत में भी सोचना, मर्दों का काम था... ऐसा उस जैसी तमाम स्त्रियों को सिखाया गया था। यह और इस सीरीज के कुछ अन्य ज्ञान इन स्त्रियों के लिए पर्याप्त थे और ऐसी शिक्षा देना किसी पाठशाला के बूते की बात नहीं थी। इसलिए इन्हें पाठशाला में उपस्थिति दर्ज कराने की औपचारिकता नहीं निभानी पड़ी।

जागरूकता का यह आलम था कि परिवार के राशन कार्ड में उसका नाम लिखवाने की बारी आयी तब किसिम किसिम की उठकबैठक के बाद मुश्किल से याद करके जो

नाम उसने अपना लिखवाया, उसे उसी की याददाश्त ने तीर के छूट जाने के बाद, उसकी सगी छोटी बहन का नाम करार दे दिया था। आगे पति के पेंशन कार्ड से लेकर वोटर कार्ड तक इसी पराये माल की ढुलाई हुई। वजह यही थी कि इस चुनाव में उसने लोटा को ही अपनी एकमात्र पहचान के रूप में अपना लिया था। वोटर कार्ड वाले जिस नाम से वह चुनाव लड़ रही थी, उस नाम को आगे करके कोई चुनाव प्रचार करना चाहता तो वह भड़क जाती। वजह न कोई जानता, न वह किसी को बता ही सकती थी।

हालाँकि वह थी बेहद खड़ूस, पर गाँव भर के लड़के उससे हँसी दिल्लगी कर लिया करते थे। अमूमन होता यह कि बच्चे जवान उसे छेड़ते और वह लोटे भर भर कर गालियों की बौछार करती उन पर। छेड़ने वाले पेट पकड़ पकड़ कर हँसते। उसे उसकी जवानी वाले दिनों में बहुत दबा कर रखा गया था। यही वजह कि सास ससुर और कालांतर में पति नाम के ढक्कन के उड़ते ही उसका व्यक्तित्व भभाके की शक्ल में बाहर निकला। अधेड़ उम्र की सीमा को लगभग लाँघ चुकी उस औरत की स्वतंत्र शख्सियत और बेबाक जुबान को किसी चीज में कैद कर पाना मुश्किल था। यह बात और है कि चुनाव के इस मौसम में उस स्त्री ने स्वयं जुबान.. शख्सियत समेत, लोटे में कैद हो जाना स्वीकार कर लिया था।

उसके अपने और कुछ पराये समर्थकों को उसका मेनीफेस्टो तैयार करने में गहरी मशक्कत करनी पड़ी क्योंकि लोग उसे वोट क्यों दें... इसका एक भी कारण उसके खाते में न था। वैसे देखा जाये तो यह माथापच्ची बेइमानी थी। कारण कि यह बात कमोबेश हर उम्मीदवार के साथ थी। दूसरे कि औसत वोटर में इतनी कूबत न थी कि वे किसी उम्मीदवार को मत क्यों दिया जाये... जैसे वजनी प्रश्न अपने आप से पूछ सकें। खैर! तय हुआ कि यह स्त्री 'सबको समान अधिकार' के मंत्र का जाप करेगी चुनाव समाप्ति तक। तो चुनाव मैदान में दिनदहाड़े लोटा लेकर उतर चुकी यह स्त्री, 'सबको समान अधिकार' वाले बनावटी दुर्ग को पार कर चुकने के बाद स्वाभाविक अंदाज में खुल जाती और अपनी बेलगाम देसी जुबान और हाथ भाँज भाँज कर बोलने की अदा से महफिल लूट लेती। अपनी चटकार उक्तियों और बेपरवाह लोक अभिनय प्रतिभा के बल पर निहायत ही नॉन सीरियस सी प्रतीत होने वाली यह उम्मीदवार, खिलंदड़प्रिय वोटरों की हॉट फेवरिट में तब्दील हो गयी। चुनाव समीक्षकों का मानना था कि चुनावी खेल में नामांकन के समय जोकर के गेटअप वाला पत्ता धीरे धीरे, फिलवक्त ग्रीन रूम के दरवाजे की खूँटी पर टँगे तुरुप के पत्ते के चोंगे की ओर बढ़ रहा था!

इस पूरे दृश्य में एक व्यक्ति ऐसा था जिसे पूर्व में दूध से मक्खी की तरह निकाल फेंका गया था, पर अब जो वापस दूध पर मलाई की अहमियत से छा गया था... हालाँकि कोई यह गारंटी के साथ नहीं कह सकता था कि कब टोंड मिल्क के इस जमाने में मलाई को भी मक्खी वाला रास्ता दिखा दिया जाये! पर अभी जो था वह यह... कि एक गंभीर रोशनी का गोला उसके ऊपर था और लोग उसे देख सुन रहे थे।

जीवन का उद्देश्य - जिंदा रहने की बेसिक चीज, वह खो चुका था... इस मोड़ के पहले तक। बस साँसें चल रही थीं, जिंदगी चल रही थी ऐसा कुछ...। त्रासदी यह कि अपने मन का बोझ किसी से बाँटने का विकल्प भी नहीं था उसके पास... कारण कि बात खुली हुई थी। सब उससे ज्यादा जानते थे उसकी नाकामी। और भीतर की बात ये कि अपनी कमी से ज्यादा उसका, लोगों के बीच उजागर होना, सालता था उसे।

निःसंतान होना एक बात है और अपनी कमियों की वजह से निःसंतान होना निहायत दूसरी बात। पहले वाले का समाजमान्य इलाज था - एक और शादी। पर इसका क्या! गाँव के बहुतेरे मर्द पुरखों की अरजी जमीन बेच बेच कर सुखपूर्वक खा पी रहे थे। इस आदमी के पास भी यह सहूलियत थी। अलावा इसके यह एक बिजली उपकरण की दुकान पर भी बैठा करता और इस क्षेत्र में इसके हाथ को आई एस आई मार्का प्राप्त था। पूरे गाँव में मीटर से बिजली जलाने वाले कुछ ही घर थे। बाकी के लोग लग्गी के सहारे तार पर तार फँसा कर अपने घर के हिस्से के उजियारे को हथिया लिया करते थे। जाहिर है ऐसे हालात में अँधेरा ढलते ढलते फिलामेंट भर रोशनी बँट कर आती - चोर थानेदार... सबके हिस्से में। पर इतनी भी बिजली अपने हिस्से की, कोई छोड़ने को तैयार न था। लिहाजा इस उद्योग में जिसकी भी गाड़ी फँसती वह रातबिरात इस ब्रांडेड मिस्त्री की सहायता ले लिया करता।

उस व्यक्ति के अपने घर के आगे बिजली के खंभे पर एक बोर्ड लगा था जिससे तीन फेज के लाइन में से उच्चतम वॉल्टेज वाले विकल्प का चयन किया जा सकता था। और तो और अपने सतत अभ्यास से दो फेज को मिला कर वॉल्टेज में दुगुने उछाल का फॉर्मूला भी इजाद कर लिया था उसने। उसकी शार्गिदी से गाँव में पतली मूँछ की उम्र वाले नौजवान मिस्त्रियों की एक पौध तैयार हो चुकी थी, पर सूक्ष्म नुख्से सारे बाँट दे..., गुरु इतना कच्चा खिलाड़ी न था।

बहरहाल उसका हुनर रहने वाला था सदैव डिमांड में, पर मन की पीर को विस्थापित करने का माद्दा उस हुनर में कहाँ। इसलिए घर में प्रकाश की किल्लत भले न रहे, मन में उसके शाश्वत अँधियारा था। उसकी पत्नी चुपचाप खटती रहती घर गृहस्थी में और उसके अपने पैसे से घर का खर्च चलता, पर घर में न तो उसकी पूछ थी न उसकी पत्नी की। दोनों घर के दो अलग अलग कोने में जुते रहते और घर पर उसकी बहन और उसका निठल्ला पति राज करता। इंतिहा यह थी कि होश में भी वह इस सबके खिलाफ कुछ नहीं ही कह पाता। रोज रात ताड़ी के नशे में होने के बाद भी किसी किस्म का हिंसात्मक या अहिंसात्मक विद्रोह दर्ज नहीं करा पाता वह।

इस चुनावी बिगुल ने जैसे ठहरे हुए पानी में कंकड़ों की बौछार कर दी थी और उसके हिस्से के जल में गजब का हिलोर आया था। पत्नी की उम्मीदवारी थी और समाजमान्य नियमों के तहत राजयोग का सेहरा पति के सिर बँधने वाला था। वह अपने कर्तव्य निवर्हन में इस बार कोई सुराख नहीं छोड़ना चाहता था। लिहाजा भिड़ा दिया उसने अपने आप को। हद इसी से समझी जा सकती है कि उसने इस दरम्यान नशा तक त्याग देने का फैसला कर दिया। बात थी भी वाजिब। दुश्मनों की क्या कमी! कहीं नशे में मुँह से कोई हल्की बात ही निकल जाती या कोई ऊँच नीच ही हो जाये... दूसरे जिसकी ताक में थे।

उसकी वनमानुषी जब भाषण करती खड़ी हिंदी में... (सनद रहे कि इस चुनाव में भारतेंदु जी की बोली में भाषण करने वाली वह एकमात्र 'लेडीस' थी)... तो उसका मन जुड़ा जाता और भीम की तरह वह अपने उन हाथों को जलाने के लिए अग्नि खोजने लगता, जिसे उसने भरी जवानी वाले दिनों में कभी अपनी पत्नी पर उठाया था... भले नशे में। अपनी स्त्री के साथ वह घर घर जाता प्रचार के लिए। बाकी के लोगों के साथ वह घर के भीतर जाती तो एक गंभीर पति की तरह वह दरवाजे पर बैठ कर मर्दों के बीच बिसात के मोहरों की चाल बूझने का प्रयास करता।

उसे अहसास था कि अपने जन्म की तारीख और प्रयोजन पर लगे दाग को मिटाने का एकमात्र मौका यही था, जिसे लपक कर उसे विश्वव्यापी सर्वेक्षणों और घर में चलती साजिशों को नाकाम करार कर देना था...

थोड़ा श्रेय परिवार की पूर्व मुखिया चमकी देवी का और थोड़ा श्रेय नये जमाने में जननी के लिए सुलभ सम्मानजनक मॉडर्न संबोधनों के विकल्पों का... कि चमकी

देवी के शासनकाल में ही मधुमक्खी के छत्ते की शिकार स्त्री के बच्चे, विक्रमगंज वाली को 'माँ' और अपनी सगी माँ को 'मम्मी' कह कर बुलाते थे। इस समभाव के विभाजन के पीछे विक्रमगंज वाली स्त्री का भावनात्मक घेराव कर पुत्री के संतानों का जायदाद पर अधिकार सुरक्षित करने की चमकी देवी की दीर्घकालीन योजना थी।

जो भी वजह रही हो पर कुटिल तंत्र पर आधारित इस घर के समीकरणों का एक कोमल सच यह था कि घर का सबसे छोटा प्राणी - बच्चा - विक्रमगंज वाली को वाकई अपनी माँ मान बैठा था। बच्चे की घ्राणशक्ति जरूरत से ज्यादा चौकस थी। श्रवणशक्ति भी। बल्कि जब कभी उसकी आँखों की पुतलियाँ शून्य में किसी बिंदु पर स्थिर होतीं तो उसका साफ साफ मतलब था कि उसकी बाकी की ज्ञानेंद्रियों का राडार एकाध सौ मीटर की दूरी का संकेत ग्रहण कर रहा होता।

ऐसे जहीन पुत्र को विक्रमगंज वाली स्त्री के खाते में जाता देख कर मधुमक्खी के छत्ते की शिकार स्त्री कलेजा मसोस कर रह जाती। पर छूट चुके तीर को कमान में वापस लाने की कला की जानकारी के अभाव में उसे मन को समझा लेना पड़ता।

बहरहाल स्त्री के मन में उत्सुकता जागती थी कि मुखिया बन चुकने का सही अर्थ दरअसल होगा क्या? यह अच्छी तरह स्पष्ट था उसके आगे कि मुखिया के सारे अधिकार कर्तव्य सही मायने में जाकर जुड़ेंगे उसके पति से। फिर भी वह जानना चाहती थी... एक

भोली कपटरहित जिज्ञासा भर उसकी। अपनी नौवीं पास डिग्री का तो यह आलम था कि स्कूल के उन दिनों जब वह सुना करती थी कि विपक्ष के लोग तख्तापलट कर सरकार गिराने का प्रयास कर रहे हैं..., तो उसका मानस तत्काल सिंहासनमय एक मोटे ताजे व्यक्ति की कल्पना कर लेता, लोगबाग ठेल कर जिसे गिराने का प्रयास कर रहे होते। बस उतना ही। विक्रमगंज लाँघने के बाद कभी 'सरकार' के स्वास्थ्य का हालचाल लेने की सुध नहीं आयी उसे। अपने ज्ञान की जर्जरावस्था पर सदैव उसकी आस्था थी। तब पूछने का विकल्प ही बचता था। पर यह पूछा तो नहीं जा सकता था किसी से... कारण कि ऐसे में एक संभावना बन सकती थी कि लोग शुबहा कर बैठें, उसकी नीयत पर। इसलिए स्त्री आँगन के एकांत में अपने दत्तक पुत्र से पूछती, उन संभावित अधिकार और कर्तव्यों के बारे में जो उसकी जीत से उसके पति को मिलने वाले थे।

बच्चा चकरा जाता क्योंकि ऐसी चीजों की जानकारी उसकी पाठ्यपुस्तकों में भी नहीं होती। चूँकि वह हर हाल में उसकी मदद करना चाहता था, इसलिए प्रधानमंत्री के अधिकारों की सूची वह पढ़ कर अपनी माँ को सुना देता। (बहुत) सारी बातें उन दोनों माँ बेटे के सिर के ऊपर से पार हो जातीं। बच्चा यह सोच कर तसल्ली पाता कि पद के छोटे होने के मद्देनजर इसका लघु संस्करण ही उसकी माँ के काम आयेगा पर स्त्री के लिए सवाल, सवाल ही रह जाता और उसे फल की चिंता छोड़ कर कर्म पर एकाग्र होने वाले ज्ञान से संतोष करना पड़ता।

विक्रमगंज के सरकारी स्कूल में पहले बोरे पर बैठ कर और फिर डोनेशन में आयी लकड़ी की हिलती डुलती बेंचों पर बैठ कर स्त्री ने पढ़ाई जरूर की थी, पर उस वक्त भी पढ़ाई को जीवन के साथ जोड़ कर देखने का विकल्प नहीं था। यानी कि कभी उसने या उससे संबंधित किसी ने इस बात पर गौर नहीं किया था कि इस पढ़े लिखे का वह आगे जीवन में क्या उपयोग करेगी। और अब तो तिजोरी में रखा सर्टिफिकेट भी ऐसा जंगा चुका था कि बहुत दिमाग दौड़ाने पर भी दो दिन आगे तक की सब्जियों के मेन्यू से ज्यादा कुछ सोच पाना उसके बूते का न था।

ऐसे में रटे हुए जो वायदे वह लोगों से कर रही थी उसका मतलब जानने की उम्मीद स्त्री से लगाना ज्यादती थी, उसके साथ। बल्कि यह बात खुद उसने स्वीकार कर ली थी। इसलिए सोचने समझने की माथापच्ची पूरी तरह मर्दों के हवाले थी। अपने हिस्से में सिर्फ इतना रखा गया था कि मर्दानी संसद से जो भी फैसले पारित होकर आया करेंगे... वह उनका जी जान लगा कर पालन करेगी... और इससे समाज का विकास अपने आप हो जाया करेगा... ऐसा उसकी भोली भाली मिंची मिंची आँखों का सपना था। पर जैसा भी जो भी... सपने देखने की शुरुआत हो चुकी थी, यह तय था!

अब उस स्त्री के पास इतनी फुर्सत नहीं होती कि वह अपने से दूर बैठ कर अपने आप को देखे। दौरे तूफानी हुआ करते उसके। उल्टे पल्ले की साड़ी, सिर पर से आँचल, आँचल को सँभालने वाले दाहिने हाथ में मोबाइल, अगल बगल दो चुस्त सलाहकार -मेहमान और पंडित। पति उसका साथ चलता था उसके, पर पत्नी के साथ साथ चलने की समाजसुलभ झिझक उसे थोड़ा अलग छिटकाये रखती थी। हालाँकि ग्रुप का सर्वमान्य अध्यक्ष वही होता और आगे कहाँ चलना है इसके बारे में सबसे पहले उसी से पूछा जाता। लेकिन बस पूछा भर जाता। स्त्री के दो पहरेदार इसके जवाब का निर्णय कर के उसके पति से उस पर मुहर लगवा लेते और काफिला चल पड़ता...

घर से बाहर जाने के लिए जब वह ढंग से साड़ी चोटी करती तो दिल चाहता उसका कि पति उसे देखे बेपरवाह। पर वह जानती थी कि उसके पति की कूबत कनझेंपे दीदार-ए-यार की ही थी। वह इतने से ही खुश हो जाने वाली स्त्रियों की श्रेणी में थी। पर किस्मत उसे और... और... देने पर आमादा थी!

होने यूँ लगा कि 'किसी' की नजर से अनदेखी रह जाती उसकी सजधज को पार्श्व का ही एक अंगरक्षक सँजोने लगा। कभी किसी घर में चिलगती धूप से चुहचुहा आये कंठ को तर करने के लिए आये पानी के ग्लास को स्त्री तक पहुँचाने के क्रम में, कभी बैठने के लिए प्लास्टिक की कुर्सी खींचने के क्रम में, कभी पसीना आयी हथेलियों से छिटक कर जमीन पर गिर गये मोबाइल को उठाने के क्रम में... हाथ टकरा जाया करने लगे। टकराहट की किस्मों को परखने की स्त्री की उम्र भले बीत रही थी, पर उसकी क्षमता पर सवालिया निशान नहीं लगाया जा सकता था। हर आवृति पर वह सोचती कि एक बार नजर उठा कर देखेगी पार्श्व के व्यक्ति के चेहरे के भाव, पर हर बार वह लजा कर चिहुँक जाती... और उलटे यह मनाने लग जाती कि उसके चेहरे पर बगल वाले की नजर न पड़े।

इसका कतई यह अर्थ नहीं था कि स्त्री किसी खोट का शिकार होती जा रही थी। बगैर किसी घालमेल के कहा जाये तो अपने पति में उसकी निष्ठा थी, पर इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि इस नयी किस्म के स्पर्श पर भी उसे आपत्ति न थी! यह बात सामने वाले पर भी जाहिर हो चुकी थी, क्योंकि अब वह थोड़ी दिलेरी से उसकी तरफ ताकता रहने लगा था। उत्तर में स्त्री की उठती गिरती, फिर गिर कर उठती नजरें मौजूद रहने लगीं... सवाल की प्रतीक्षा में। एक दिन इस मौन के सवाल जवाब को कुछ स्वर व्यंजन मिल गये। रास रंग की कला में अनाड़ी पंडित, आकर्षक दिखने के प्रयास में एक छींटदार कमीज पहन कर आया... अपनी घिसी सफारी के बजाय। स्त्री के मुँह से उस पूर्व के परिहास के जवाब में एक चुहल निकला, जब भरे आँगन में उसी पंडित ने उसकी उम्मीदवारी का चुग्गा फेंका था और लोग ठठा पड़े थे। स्त्री ने उसे छेड़ा - इ सर्ट ससुराल से आया है का...!!!

हे प्रभु! पंडित लजा कर कच्ची कली कचनार की..., में तब्दील हो गया और स्त्री के पति और मेहमान के गगनफाड़ ठहाके स्त्री की हिन हिन हँसी के साथ गुत्थमगुत्था होकर गूँजते रहे।

पंडित अपने घर सिर्फ सोने भर के लिए जाता। हालाँकि जिस रात महफिल लग जाती, घर के पुरुष उससे वहीं रुक जाने का इसरार करते। पर मधुमक्खी के छत्ते की

शिकार स्त्री का ठंडा चेहरा उस संयोग के रास्ते में आ खड़ा होता और पंडित विदा लेने के लिए अपना काला चश्मा खोजने लगता। बहरहाल सामूहिक एकता एक ऐसी इमोशन को छूने वाली चीज है, जिसमें कंजर से कंजर लोग दुनियादार हो जाते हैं। यह लोगबाग के दिलों के डिस्क स्पेस को इतना बड़ा कर देती है कि उनमें दूसरों की मुसीबतों को अपने ऊपर ओढ़ लेने का जज्बा आ जाता है। वही सब यहाँ भी हो रहा था।

पंडित की तरक्की घर के पुरुषों के बीच 'पंडितवा' से 'पंडित भाई' में हो गयी थी। और स्त्रियों का ये हाल था कि सूजे चेहरे वाली स्त्री जहाँ उसका जिक्र करने से अभी भी गुरेज करती थी, वहीं दूसरी स्त्री, शब्दों की जगह दूसरे जतन ढूँढ़ती उसे टोकने के। खाने की क्रिया के आखिरी पायदान पर पहुँच चुकने के बाद थाली में एक रोटी और कलछुल भर तरकारी डाल दिया जाता छल से या कि किसी दोपहर पंडित की आँख ही लग जाती तो छप्पर से एक खड़िका तोड़ कर उसे चूड़ी वाले हाथों से सोये आदमी के कान पर चला दिया जाता, सबकी आँख बचाकर...। पर पकड़ी भी गयी तो क्या... देवर पर इतना तो हक बनता था... जैसी सीनाजोरी तक आ गयी थी स्त्री में।

स्त्री के भीतर विश्वास के पंख फड़कने लगे थे। अपने ऊपर विश्वास के पंख। वह अपने भीतर की इच्छाओं को पहचानने लग गयी थी। टहकती धूप में घर घर घूमते वक्त जब उसकी माँग से टपक कर लाल पसीना गरदन तक पसरता तो उसे अपने होने का सबसे सुकून भरा प्रमाण मिलता। वह डेग डेग भर चलने वाले सपने देखने लगी जिसमें जीत चुकने के बाद भी ऐसे ही घूम कर लोगों की सेवा करने के दृश्य थे। उनमें उसके आगे आगे उसका पति होता और पार्श्व में चुहल करती एक परछाईं होती। यह तय था कि अगर स्त्री से पूछ दिया जाता कि लोगों की सेवा का दुपहरिया में घर घर घूमने से क्या संबंध... तो वह सकपका जाती। यह सवाल पूछा भी क्यों जाता..., जबकि सपनों का यथार्थ से छत्तीस का आँकड़ा जगजाहिर है।

स्त्री के चुनावी संबोधनों में खड़ी हिंदी तो होती ही, अंगरक्षकों की देखरेख में कुछ चलफड़ अंग्रेजी के शब्दों का शुमार भी हो गया था। हालाँकि बात अगर स्कूली सर्टिफिकेट के प्रमाण की आती तो वे दोनों कक्षा नौ के पहले ही लुढ़क चुके जीव थे। लिहाजा स्त्री ही उनसे बीस पड़ती 'क्वॉलिफिकेशन' में। पर व्यावहारिक ज्ञान और उठने बैठने की आबोहवा भी एक चीज होती है, जिसके हिसाब से चूल्हा चौका वाली घरघुस्सू स्त्री की दस लोगों के बीच उठने बैठने वालों से क्या तुलना!

बहरहाल! स्त्री के पहनावा, पोशाक और भाषण के तरीकों से उसकी प्रतिद्वंद्वी लोटाछाप मसाला जुटा लेती और बिना किसी लागलपेट के व्यक्तिगत हमला बोल देती मोतियों की माला पर। पर यह भी होता कि जब वह फैमिली पेंशन का पैसा निकालने बैंक जाती तो मैनेजर मैडम से अँगूठे की छाप सत्यापित करवा चुकने के बाद केशों में अँगूठे की स्याही पोंछते हुए एक हूक सी उठती उसके मन में। ऐसा नहीं था कि इस बीच तीन अक्षरों के साथ मात्राओं के जोड़ घटाव से बने अपने नाम को लिखना सीख कर अँगूठा छाप के कलंक को मिटा देने का प्रयास करने की हिम्मत नहीं जुटा सकती थी वह। जुटाने को तो वह कुछ भी जुटा लेती! पर लिखना सीखती भी तो किस नाम को! वह नाम तो कभी अपना था ही नहीं! पराये नाम को लिखना सीख कर साक्षर कहलाने से तो बेपढ़े लिखे का ठप्पा ही भला! इस सोच से वह मन की सारी कसक को बुहार फेंकती।

मेहमान नामक किरदार रातोंरात पाला बदल लेने के सारे विकल्पों पर विचार कर चुका था। पर दूसरों में दम नहीं था। एक जिसमें था - उस लोटाछाप की स्वामिनी का कैरेक्टर इतना मनहूस था कि उसकी भाड़मंडली में शामिल होने का विकल्प निहायत नॉन रोमांटिक था। इसलिए मन की कुलाँचों पर लगाम लगा कर यहीं इसी खेमे में अर्जुन का किरदार झटक लेने में भलाई थी।

आखिरी ओवरों में समझ बूझ कर बल्ला घुमाना था। वरना तो क्लीन बोल्ड की संभावना ज्यादा बनती थी। जैसे जैसे चुनाव नजदीक आ रहा था वोटकटवा उम्मीदवार भी जोरशोर से सक्रिय हो गये थे। इस मद्देनजर घर में घनघोर मनन का वातावरण बन गया था। समय कुसमय गूँजने वाले ठहाके गंभीर हो गये थे। जनसाधारण के बीच दूसरे दलों का जनवितरण प्रणाली का बजट क्या था... इसमें भी सेंधमारी की जा रही थी। बाजार में किसिम किसिम की अफवाहें थी। पर उन पर आँख मूँद कर यकीन कर अपना बजट बढ़ा लेना अपनी पहल से उल्लू बन जाने सरीखा था। वक्त करीब आने के साथ यह साबित होता जा रहा था कि मतदाता, चतुराई में उम्मीदवारों पर भारी पड़ रहे थे। मुट्ठीभर सत्तू के लिए खेमे से सरक जाने वाले। इस चुनाव को अगर कोई नियंत्रित कर रहा था तो वह था छोटे से छोटे फायदे का आसार। समाज का विकास, शिक्षा, रोजगार, जैसे सचरित तत्व और धर्म मजहब जाति पाँति जैसे लठैत फार्मूले... सब चमकहीन साबित हो रहे थे। विशुद्ध 'रिटर्न' नाम की चीज का जमाना था... माइक्रो.. मैक्रो.. हर लेवल पर यह स्पष्ट होने लग गया था।

तानाबाना यही था..., कि एक घटना घटी। वह घटी तो पलक झपकने भर की आपाधापी में, पर उसका प्रभाव नींद उड़ाने वाला साबित हुआ। चार खूँखार चक्कों की चपेट में एक बच्ची आ गयी। लोग हाहाकार करते चारों तरफ से जुट गये। जीप धड़धड़ाती हुई आगे निकल गयी। पर गाड़ी की वजनदार पहचान की शिनाख्त करने में जरा भी वक्त न लगा किसी को। बच्ची ने वहीं... गाँव की जीर्ण पड़ चुकी पक्की सड़क पर तत्काल अपनी सर्वमान्य घृणित लाल राशन कार्ड मार्का योनि से मुक्ति पा ली।

मामला माँ बाप के हाथ में पच्चीस पचास हजार रख देने से ही निबट जाता। पूर्व निर्धारित रेट के हिसाब से ऐसा आकलन था... बच्चे की जाति और आर्थिक पिछड़ेपन के मद्देनजर। पर चूँकि मौसम चुनाव का था और लोटाछाप की प्रत्याशी जबरदस्त इमोशन की चपेट में आ गयी थी - बजट कुछ इस प्रकार बना। माँ बाप - पचास हजार, बाकी के दल लोटा समेत - तीस तीस हजार, थाना पुलिस - एक लाख, अन्य मतदाता... वाया मोतियों की माला - तीन से पाँच लाख अनुमानित। इतने खर्चे पानी के बाद गुनहगार साबित होना कोई भी डिजर्व नहीं करता था। इसलिए जीप अपने चक्कों समेत साफ शफ्फाक निकल गयी... फिर से धड़धड़ाती। सवाल यह था कि इतने पैसे बूकने और इतने सारे हिस्सेदारों की क्या जरूरत! मिशन स्याही को मिटाना नहीं, बल्कि स्याही का उत्पादन ही बंद कर देने का था।

कालांतर में एक नो लॉस नो गेन वाले अनुपूरक बजट की गुंजायश यहाँ बनी कि जज्बात की शिकार एक विदूषक स्त्री ने जब अपने हिस्से के पैसे ठुकराये तो उन्हें 'समाज के विकास' के सही मामलों में ठेकेदार चुनाव निशान - 'मोतियों की माला' तक पहुँचा दिया गया। उस तक इसलिए, क्योंकि मोतियों की माला को गूँथने के धागे का आधार जो शक्तियाँ थीं, उनमें सबसे प्रमुख ताकत चक्कों के मालिक की थी। कहें कि चक्कों के मालिक के 'हाथों की मैल', मोतियों की माला के जादुई खेल के सूत्रधार थे।

यह सब कुछ दरअसल पहले से लिखी स्क्रिप्ट में नहीं था, इसलिए किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि उन्हें रिएक्ट कैसे करना था। अभी तक लोगों के मनोरंजन का साधन बना कोई पात्र अचानक से ग्रीक ट्रेजेडी और क्रांति के घालमेल से एक रसायन

तैयार कर अपने आप को उसमें डुबो ले रहा था। कोई किंग मेकर बनने का ख्वाब पालने वाला जीप का शौकीन पूँजीपति, बैकफुट पर खेलने लग गया था। कोई आजाद खयाल के युवा दिलों पर राज करने वाली विकास की अग्रदूती 'कि...किरण' वापस से इधर उधर गरदन डुला कर मर्दों की बात सुनते रहने वाली पुतली भर बन गयी।

यह दीगर बात है कि इस सरप्राइज एलीमेंट के बाबजूद कुछ ऐसे लोग थे जो मस्तराम बनके जिंदगी के दिन गुजार देने वाली नियति से पैदा हुए थे और जिनके हाव भाव अप्रभावित रह गये... हवा चाहे जिस मौसम की भी चले। स्पष्ट है कि उनमें से एक मेहमान था, जो कि कोषाध्यक्ष बन बैठा था इस आकस्मिक राहतकोष निधि का। वह अभी भी उसी ईमानदारी से अपना किरदार निभाता। जीप वाले घर से पैसे उठाता, उसे बाकायदा थूक लगा कर गिनता और अपना कमीशन जेब के हवाले कर बाकी पार्टी मुख्यालय में जमा करा देता। वहाँ से आगे के चक्र का... बल्कि पीछे के भी चक्र का भी... यानी जीप वाले घर के इस आकस्मिक दुर्घटना फंड के एकाउंट सेक्शन का भी कमोवेश सूत्रधार वही बन बैठा था। दोनों घरों को मिलजुल कर एक दूसरे की नाव किनारे तक लगा जो देना था।

दरअसल किसको कितना खिला कर कैसे सेटिंग कर लेना है... दोनों घरों के इस मोर्चे की कमान गाँव के उस आयातित शख्स ने ले ली थी। पंडित को भान हो गया था कि वह कहीं हल्का पड़ने लगा था। उसने अपने आप को थोड़ा सा झुका कर मेहमान की परछाईं बना लिया था... यानी काम दोनों में से कोई भी करे रोशन चेहरा, सामने वाले का ही होता। **11** अप्रैल **1954** को ऐसा लगने लगा था कि राजयोग के पहले का यह उसका आखिरी इम्तिहान था और नया नया मेहनती बना वह आदमी दिन रात रबड़ की मुहर बना, मेहमान और पंडित की संकटमोचक जोड़ी के कारनामों पर अपनी स्वीकृति छापता जाता।

मधुमक्खी के छत्ते की शिकार स्त्री का पुराना वातरोग फिर से उभर आया था और वह लंबी लंबी डकारें लेती घर भर में विचरण किया करती इस दंभ के प्रेशर से उभचुभाती कि भाषण फासण शिक्षा पढ़ाई सब जाये चूल्ही में। आखिरकार तो नाव पार लगायेगी उसके पति की व्यावहारिक चतुराई ही!

मुसमातिन नाम की स्त्री के बदले बदले रवैये के पीछे मोटे तौर पर दो वजहें नजर आती थीं। अव्वल तो यह कि मृतक बच्ची की जाति, उसकी अपनी जाति थी। दूसरा यह कि स्त्री माहौल की नजाकत को ध्यान में रख मौके को लपक लेना चाह रही थी। लेकिन दूसरी तरफ अगर सूक्ष्मता में जायें तो एक जाति थी जरूर, पर दोनों में लाल, पीले राशन कार्ड का फर्क था। एक लगभग खाते पीते घर की, दूसरी बगैर घर की। कोई नपा तुला रिश्ता निकल कर नहीं आता था। और रही बात मौके को लपकने की, तो जब सर्वसहमति से इतने सौहार्दपूर्ण वातावरण में घटना का पटाक्षेप होता दिख रहा था तो बेमौसम बरसात की इस झंडादारी का मतलब क्या! लोगों का मुँह छोटा था, जुबान बंद करने के लिए दी जा रही कीमत ज्यादा। ऐसे में क्या खाक फायदा होने वाला था उसका। तब फिर क्या था जो उस गैरजिम्मेदार सी भड़भड़िया स्त्री को संजीदा बनाने पर आमादा था! इसकी पड़ताल करने में बड़े से बड़े चुनाव समीक्षकों के पसीने छूट रहे थे। छूटते रहें पसीने, पर वह अपनी बात पर अडिग थी।

बच्ची का पिता, पाँच पाँच सौ के नोट में अदा की गयी रकम को अब तक एक बार भी ठीक ठीक गिन नहीं पाया था। हमेशा एक या दो नोट लुकाछिपी खेल जाते। बच्ची बिमरिया थी जन्म से। एक पाँव में पोलियो और पेट भी दुनिया का निकला... पर थी लछमिनिया... जाते जाते घर का भला कर गयी आदि आदि...। माँ उसकी, जरा मरा भोकार मार कर रो लिया कर रही थी। इससे घर, घटना घटित हुए घर जैसा लगने लगता कभी कभी।

मुसमातिन घटना से सबसे ज्यादा, बल्कि कहें, कि एकमात्र प्रभावित उस परिवार को अपनी तरह 'जिम्मेवार' बनाने के अभियान पर निकल गयी थी। पर बच्ची का पिता इतना उकता गया था उसकी टोकटाक से कि वह नोट गिनती में ऐन वक्त पर आ रहे हेरफेर का दोषी भी उसे ही मान रहा था। स्थिति को सूँघ कर मुसमातिन नाम की स्त्री अपने दाल का पतीला लेकर दूसरे चूल्हे की तलाश में निकल गयी। आसपास पट्टी टोले... में कहीं किसी सुनगुन आँच की... या फिर कोई आँच न मिले, तो धूप में ही सही। खुले आकाश की धूप में... पर दाल को तो गलाना ही था।

कुछ लंबी नाक वाले विशेषज्ञों का मानना था कि वह हमेशा मामले को जिलाये रखना चाहती थी ताकि कोई रास्ता न देख कर आखिरकार जीप के चक्कों को पहले के पैक्टों के उलट कोई नयी चालढाल वाली संधि करनी पड़ जाये, मुसमातिन से और सारे के सारे दाँव उलट कर रह जायें अभी तक के!

'पढ़िए गीता बनिए सीता फिर उन सबमें लगा पलीता...', को चरितार्थ करती स्त्री, रात्रि भोजन में स्वाद जुटाने में लीन थी फिर एक बार। पर इस स्त्री पर ऐसा व्यंग्य क्यों! इस स्त्री का क्या दोष! यह तो ठीक से पढ़ी भी नहीं थी। मूल गीता पढ़ने की कूबत कहाँ! आज की तारीख में वह गीता की हिंदी टीका भर पढ़ ले टो टा कर... यही एक उपलब्धि। हाँ तो 'कि..कि..किरण' के चुलबुले डबलरोल की माया से निकल कर वापस विक्रमगंज की हकीकत में दाखिल होती एक स्त्री, जोकि संयोगवश साक्षर कही जा सकती थी और कालांतर में भर भर पतीला भात पकाने में सिद्धहस्त हो चुकी थी, घर के आँगन में होती कानाफूसियों और गुपचुप साजिशों में अपने को आउटसाइडर मान कर अपनी शारीरिक उपस्थिति भर दर्ज करा पा रही थी। वैसे उस औपचारिकता की भी जरूरत नहीं रह गयी तब, जबकि बैठकी उठ कर ओसारे के बाद वाले कमरे में होने लग गयी थी। कारण कि उसमें एक नया मंत्रकार जुट गया। बल्कि कहें कि जिसने स्त्री को विस्थापित कर दिया -वही 'चक्कों' वाली जीप का मालिक! चूँकि मामला नाजुक था और वातावरण में सन्नाटा था, ओसारे पर मजमा लगाना किसी लिहाज से सुरक्षित न था। इसलिए उससे सटे कमरे का चयन। वरना तो मर्दानी बैठकें ओसारे पर ही शोभा पातीं। अगर विशुद्ध जेंडर पर जायें तो एक विपरीत लिंग की उपस्थिति भी थी वहाँ, पर डील डौल और रुतबे में वह किसी पुरुष से कम न थी। लिहाजा मधुमक्खी के छत्ते की शिकार स्त्री तथाकथित मर्दानी बैठकों में आसानी से खप जाया करती थी।

विक्रमगंज वाली चाय बना बना कर भिजवाती जाती और शाम ढलते खाना बना कर इंतजार करती कि कब मर्दों की मंत्रणा खत्म हो और वह खिलाने... बरतन माँजने... की रातचर्या पूरी करे। वैसे खाली बैठ कर इंतजार करने का उबा देने वाला सीन नहीं था, बल्कि इस दौरान भी उसे बझाये रखने के लिए विकल्पों की कमी नहीं थी। उसके गृहस्थी के दृश्य से आंशिक रूप से गायब होने से उत्पन्न स्थिति का जायजा यह था कि... जाँत का चक्का जाम हो गया था... गैस चूल्हे के नीचे का स्लैब चिटचिट हो गया था... चोकर वाला आटा भुआ गया था... गंदी चादरें एक कोने में गट्ठर की शकल में पड़ी थीं आदि आदि। इसलिए सब विकल्पों से बड़ा एक विकल्प यह कि इंतजार करते हुए यह सोचा जाये कि काम की शुरुआत की कहाँ से जाये!

बीच के छोटी आयु वाले सुखद पलों में वह जो कुछ भी कर रही थी... सब अपने लिए। साड़ियों की फड़फड़ाहट, घर घर घूमना, भाषण... तालियाँ, प्रशंसा, नाम। कब अपने आप से इतना प्यार हो गया उसे कि अब वापस गृहस्थी की गुमनामी में धकिआया जाना उसे झकझोर रहा था। वह जानती थी कि बाहरी बैठकों में चलने

वाली मंत्रणाएँ भी आखिरकार हैं उसी के लिए। उसकी ही जीत की रणनीति। पर उसके मंतव्य उसके मशविरे उसके अस्तित्व की ऐसी अनदेखी कर के बनायी जाने वाली रणनीतियों का क्या महत्त्व बचता था... आखिर!

अगर पहले वाली स्त्री का लेशमात्र भी शेष होता उसके भीतर, तो उसी वक्त चूल्हे में चिमटे को धिका कर अपने शरीर को दाग कर सजा दे देती वह अपने आप को... ऐसे बागी विचारों के लिए। लेकिन उस वक्त पहले वाली स्त्री के भीतर, अब वाली दूसरी स्त्री, इस कदर हिलोरें ले रही थी कि अपने इस नये रूप से आँखें चुराने की औपचारिकता तक का सब्र नहीं था उसमें।

पर क्या केवल उस बैठक में गैरमौजूदगी ही खाये जा रही थी विक्रमगंज वाली को! यहाँ स्थूल रूप से देखा जाये तो यही नजर आता था, पर सूक्ष्म रूप से देखें तो बहुत परतें थीं कसकों की। एक ऊपरी तल की बात यह कि चार चक्कों के मालिक ने स्त्री को प्रतिस्थापित कर दिया था... स्त्री के चरित्र से जुड़े सारे समीकरणों को उलट पुलट कर रख देने के लिए यह एक बड़ी हूक थी।

सब के सब भागीदार थे उसकी उपेक्षा में। उसका जी चाहा कि कलछुल भर नमक उठा कर घोल दे घर वालों की तरकारी में। पर हुआ क्या...! सिर पर से आँचल जरा भी खिसकने दिये बगैर, उमसायी गरमी में वह सब को खाना खिलाती गयी। ननद की पसंद की तीसी की चटनी... के लाम लिफाफे समेत। उसका रोष निकला छिटपुट... लेकिन बरतनों पर... खाना परोसते... बरतन खँघालते वक्त।

रात की गहराई में स्त्री एकटक जल रही थी। मोमबत्ती की शांत लौ की मानिंद। पुरुष की आँखों में हल्की खुमारी थी। पर यह भी सच था कि होश आधा गँवा चुकने के बाद ही वह सर्वाधिक चैतन्य होता।

स्त्री बिना डुले पिघलने पर आमादा थी... चित्त लेटी। स्त्री और पुरुष के इस जोड़े के बीच, दुनिया की गैरमौजूदगी में भी, एक दूसरे के शरीर को छूने की भाषा बिला चुकी थी। इसलिए उस शाश्वत मूक भाषा की अनुपस्थिति में पुरुष ने आदतन, एक ठस माध्यम का चयन किया और एक फँसी हुई खरास निकली उसके गले से। स्त्री के अभ्यस्त कानों ने उसका देह की भाषा में अनुवाद किया... जिसमें उसके तलुवे को पुरुष के नाखूनों से सहलाया गया था। सही जगह का यह स्पर्श स्त्री के लिए पर्याप्त साबित हुआ और वह भरभरा कर रो पड़ी। पुरुष इस प्रतिक्रिया के लिए प्रस्तुत न था। नशे की मद्धम खुमारी ने हालाँकि फिर भी उसे सँभाल लिया। वह उठ कर पलँग पर

बैठ गया और स्त्री के तकिये को थपकी देने लग गया। स्त्री ने फिर इसका अनुवाद किया और अपने काँधे पर थपकी पाकर संयत होने लग गयी। पर बीच बीच में एक तेज हिचकी निकल जाती। पुरुष इससे ज्यादा उसे चुप भी नहीं कराना चाह रहा था। वह चाहता था कि आँसुओं की एक दीवार बीच में रहे जरूर, भले पारभासी। कारण कि उस दीवार के हट जाते ही उसके सामने स्त्री की आँखें आ जातीं, पुरुष जिनमें कि देख पाने में पूरी तरह असमर्थ था।

स्त्री ने आँचल से चेहरा पोंछते हुए रुँधे गले से कुछ कहा... अपनी उम्मीदवारी वापस लेने जैसा कुछ...। पुरुष हिसाब में... अनुवाद में... हर क्षेत्र में कमजोर था। इसलिए वह सामने वाले की इस बात का देह की भाषा में अनुवाद नहीं कर सका। हालाँकि बात कही भी ऐसी स्थूलता से गयी थी कि देह का सूक्ष्म शब्दकोश अनछुआ रह गया।

अब पुरुष लेट गया... एक समानांतर दूरी पर। स्त्री की तरह ही चित्त। कोई और दिन होता तो स्त्री तड़प कर उसकी ओर पलट जाती... उसे थाम लेने के लिए। पर यह एक नयी किस्म की रात थी। ऐसी रात न पहले कभी आयी थी... न बाद में ही कभी आनी थी। इसलिए एक कुशल खिलाड़ी की तरह स्त्री रात को गिन गिन कर खरचना चाह रही थी। एक भी पल गँवाना बेकार। उसने पहली लपक में उस लम्हे को पकड़ा, जब जगतपुर में पहली बार घूँघट उठा था उसका।

तब की... जवान सास - चमकी देवी - ने अपने पति की पगड़ी से अपना सिर टकरा जाने दिया था बेसँभार...। आँख पर ऐनक की बजाय बटन चढ़ा कर क्यों गये थे बेटे का रिश्ता खोजने... आदि आदि। चूँकि स्त्री को मायके में दादी नानियों ने ये सारे संवाद सुना सुना कर बज्र बना रखा था बचपन से... इसलिए इस मोर्चे पर वह सम्मानजनक अंकों से उत्तीर्ण हुई थी। ...फिर आगे पति था, ननद थी, समाज था ...पर स्त्री की तैयारी फूलप्रूफ थी। सबके वार के आगे निर्विकार।

स्त्री ने आँखों की कोर से महसूसा... पुरुष उसकी ओर पलट चुका था। उसका काँधा चिहुँका, जहाँ पुरुष की साँसें सहर रही थीं।

पुरुष चाह रहा था कि उसकी साँसें टकरा टकरा कर वापस लौटें, स्त्री के शरीर से... वापस... उसके अपने शरीर तक। जब यही औरत नयी नयी ब्याह कर आयी थी तब महीनों तक उसके पास वह अपने पैरों पर चल कर नहीं आया था। नशे में लड़खड़... लोग मना समझा कर... किरिया कसम के काँधे पर टाँग टूँग कर लाते थे घर उसे।

अपने शरीर के साथ इतने प्रयोग दुष्प्रयोग उसने किये इस दौरान कि कालांतर में, उसके निसंतान रह जाने की बात को लोगों का एक संप्रदाय उन्हीं दिनों की बदहवासी से जोड़ कर देखता था। उसके साथ के लड़के उसकी किस्मत पर हँसते मुँह सामने। बहुत दिनों तक उसे लगता रहा कि पैदा तो वह कामचलाऊ तकदीर लेकर हुआ था, पर आदिमानवी के साथ गाँठ जुड़ते ही उसकी किस्मत की गठरी मसक गयी।

स्त्री को ऐसा लगा मानो, उसकी केहुनी किसी चीज से छुआ गयी। वह झपट कर उस ओर मुड़ी... यह भूल कर कि खरचने के पहले रात को लगातार गिनते जाना था उसे। पुरुष, जो जरा देर पहले उससे नजरें न मिल सकें... इस डर से... यही मनाता रहा था कि स्त्री की आँखों पर आँसुओं का परदा रहे हमेशा, उस वक्त उसकी ओर ताक रहा था। सिहर गयी स्त्री...। क्योंकि वह नजर पूर्वपीठिका थी, देह की भाषा की, स्त्री जिसके ज्यादा अंतरंग अक्षर बिसर चुकी थी। उसने आँखें मूँद लीं। मतलब! माने कि अगर क्षीण संभावना भी हो भाषा के स्मृति में अंकित रह जाने की, तो आँखें बंद कर स्त्री उसे पढ़े जाने की संभावना के विकल्प पर विराम लगा देना चाह रही थी।

स्त्री की मुँदी आँखों के पीछे बहुत सारे लाल पीले चित्रों वाला दृश्य विधान खुल गया, जिसमें, कुछ करीबी-रंगीन साड़ियों में लिपटी औरतें उसे धकिया रही थीं, एक खुफिया मिशन पर जाने के लिए। गुपचुप निबटाया जाने वाला कार्यक्रम। परिवार की इज्जत और वंश की परंपरा बढ़ाये रखने का शास्त्रसंगत मार्ग। कहें शास्त्रसंगत मार्ग का कलयुगी संस्करण... ओझा गुनी। नीम अँधेरे ही जाना था उसे और संतान का 'आशीर्वाद' लेकर घर आना था। शर्तिया सफल होने वाला तरीका। इस अध्याय का कोई सांसारिक ज्ञान पाकर वह विदा नहीं हुई थी विक्रमगंज की दहलीज से, पर उसकी वनमानुषी नासिका ग्रंथियों ने कैसे तो सूँघ ही लिया इस अनैतिकता को। वह अड़ गयी... अड़ियल घोड़े की तरह। चमकी देवी जैसी प्रचंडात्मा तक उस सती को रत्ती भर भी हिला नहीं सकी, जबकि इस खुफिया योजना में चमकी देवी और उसके पुत्र, दोनों की सहमति थी। कई प्रकार के हथकंडे अपनाये गये, जिसमें कठोर भर्त्सना से लेकर अल्पकालीन जगतपुरनिकाला तक शामिल था। समय समय की बात है। उस वक्त स्त्री ने सब झेल लिया था, पर उस अपमान के आँसू..., जिनका उसकी आँखों में तब हक बनता था, आज इतने वर्षों बाद उसकी आँखों में छलके। इस वेग से कि स्त्री के लिए आँखें मूँदे रखना संभव न हुआ और आँखें खुल गयीं।

स्त्री की आँखों के लिए पलकें छितरा कर खुलने का स्पेस न था... सामने... ठीक उसी तरह, जिस तरह पुरुष के आगे बिफर कर 'न' कहने का विकल्प नहीं था तब..., जब घर की मुखिया, उसकी पत्नी को अनैतिक रास्तों पर अकेला छोड़ आने की पूर्वपीठिका तैयार कर चुकी थी। बात थी भी तर्कसम्मत। खानदान को वारिस देने की कूबत अगर उसमें नहीं थी तो बड़े बुजुर्गों की योजना में रोड़ा बनने का कोई हक भी नहीं बनता था उसका।

एक तेज साँस, सामने की अधखुली पलकों पर हावी हो गयी। स्त्री की देह पर एक जिन्न सवार हो चुका था। उसके शरीर पर उसका कोई वश न रहा। अपने शरीर पर से स्त्री की स्वतंत्रता जाती रही और उसी क्षण उसकी चेतना आजाद होने लगी... हवा में तैरती सी। ...ऐसे, जैसे गुब्बारे की महीन डोर फिसल गयी हो हाथों से। आश्चर्य कि चेतना के पंख फैला कर ऊपर उठते ही उसने जिन बातों के बारे में सोचा... सब की सब विशुद्धतः उसी से जुड़ी थीं। अपनी पहचान अपना सम्मान अपना मुस्तकबिल। अपने से जुड़े कुछ सवाल वजूद में आये थे तब, जब पिछले दिनों होनी अनहोनी घटनाओं ने उसे सबकी निगाह में ला दिया था। अपने से जुड़े वही सवाल छटपटा रहे थे अब, जबकि फिर वैसी ही अनहोनी होनी घटनाओं ने उसे दूर किनारे पर पटक दिया था। पाकर खो देने का बोध उसे बेचैन कर रहा था। मन की इस अकुलाहट ने उस स्त्री को उत्तेजित कर दिया और उसका पराधीन शरीर अपने ऊपर लिपटी छाया को अनुकूल तरंगें भेजने लगा।

पुरुष के लिए यह पूरी प्रक्रिया एक पेंचदार संग्राम की तरह थी। **11** अप्रैल **1954** के मिथक के खिलाफ उसके संघर्ष के चरम पर पहुचने की आखिरी कवायद। एक ऐसे आदमी का संघर्ष, जिसके मन में चिनगारी तो थी, पर जिसके नाखून सारे... भोंथरे थे। एक लंबे अंतराल के बाद... देहलिपि को, टटोल कर ही सही, पढ़ने का प्रयास सिर्फ भाषा का रियाज मात्र नहीं था। बल्कि अपने अंगों की धार को माँज लेने का अभियान भी था यह। ठीक आखिरी पड़ाव के पहले, जहाँ से फतह के बाद पूरे गाँव का नियंत्रक बन बैठना था उसे। उन लोगों का मुखिया, जो अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, पर उसकी जन्मतिथि की मिथक वाली साजिश में शामिल थे।

सामने एक स्त्री थी, जो अब तक की उसकी हर असफल यात्रा के आगे खुद को रास्ता बना कर बिछा लिया करती थी। इसलिए अब, जबकि पहली बार वह एक शर्तिया सफल यात्रा पर था, रास्ता बन जाने का हक बनता था स्त्री का! पुरुष के तलुवों की मजबूरी थी कि उन्हें 'रास्ते' को रौंदते जाना था... और वह करता भी क्या। सिर्फ

'रास्ते' को, रौंदते जाने की पीड़ा से बचाने के लिए वह यात्रा तो स्थगित नहीं कर सकता था! हाँ रास्ता बदल लेने का विकल्प था उसके पास। पर स्त्री को, उसके औरतपने के 'हक' से वंचित कैसे कर सकता था वह!

लिहाजा एक ही समीकरण बचता था... एक ही मार्ग। उसे झपट कर आक्रमण कर देना था... और स्त्री पर तड़फड़ाते हुए होने के बावजूद, पुरुष के उसी भोंथरे नाखून को पैना करते जाने का दायित्व था, जिससे खुद नोंचाए जाने की नियति लेकर वह विक्रमगंज से विदा हुई थी।

चाहे जो भी हो रात थी स्त्री की और सारे समीकरणों के उलट वह अपनी परिंदगी को जी रही थी। उसकी तड़फड़ाहट को स्वर देने के लिए उसके शरीर पर कई कई जोड़े डैने उग आये थे। इस विशुद्ध समागम के सीन में हालाँकि विक्रमगंज डेज के किसी भी रील के लिए कोई स्थान नहीं बचता था। फिर भी याद का क्या! अपनी देह के पाखी में तब्दील होते ही, स्त्री फिसल गयी। कुसमय एक स्मृति उस पर हावी हो गयी। परिंदों की स्मृति। विक्रमगंज के परिंदे।

स्त्री को याद हो आया कि उसका बटेरमार के नाम से प्रसिद्ध भाई गाँव भर के बथानों से शिकार लाया करता था और वह रसोई से सबकी नजर बचा कर कुछ बेजान चिड़ियों को ले आती... उन लोककथाओं के आसरे, जिनमें कभी कभी किसी सगे संबंधी की प्रार्थना पर मृत पात्र भी आँख मलते हुए जी उठते थे। उसकी प्रार्थनाएँ निःस्वार्थ हुआ करती थीं। बावजूद इसके, किसी भी पक्षी का जी उठना तो दूर, आँखें मुलमुलाना भी प्रकाश में नहीं आया। फिर भी विश्वास के सहारे बिला नागा उसका प्रयास जारी रहता। हे प्रभु! तो क्या एक औरत की जिंदगी में ताउम्र मायके और ससुराल की फाँक ऐसी गहरी होती है कि विक्रमगंज के परिंदे, जगतपुर के इंसानों पर भारी पर गये! इंसान कौन - कह कर चौंकने की जरूरत नहीं थी। क्योंकि लँगड़ी लूली ही सही, जो चक्कों के नीचे दबी, वह थी तो उसी आबादी का हिस्सा, जिसके नाम की आरक्षित सीट से चुनाव में खड़ी होकर स्त्री ने जातिवाचक से व्यक्तिवाचक संज्ञा तक का सफर तय किया था।

साये में लिपटी मैना के शरीर में ताजा उगे जोड़े जोड़े भर डैने कम पड़ गये... उसकी तड़फड़ाहट के वेग को लय में साध पाने में। कंठ के बीचोंबीच से आवाज को उत्पन्न करने वाले अंग खो चुके थे और उनकी अनुपस्थिति में अपने रोओं के चीत्कार से रोक देना चाह रही थी वह स्त्री... इस सृष्टि का चक्र। मरे हुए पक्षियों की छुअन

उसके शरीर से चीख बन कर निकलना चाह रही थी, जिसकी गूँज में उसके अपने मान सम्मान अस्तित्व... सब के सवाल गूँगे साबित होने वाले थे।

एक जीते जागते इंसान के कुचल दिये जाने पर स्त्री का कंठ खामोश रहा, अब उस इंसान के चिता की राख ठंडी हो चुकने पर, उस स्त्री के रोओं से निकली चीख में क्या इतनी कूबत थी कि वह संसार की चाल को प्रभावित कर सके! ...उसकी आवाज एक सिसकी में सिमट कर निकली, जो उसे अपने साये में जकड़े पुरुष की उद्दाम साँसों से टकरा कर तकिये के आसपास ही कहीं औंधे मुँह बिखर गयी।

सन्नाटा था पर चूँकि हफ्ते भर से कम समय बचा था फिनाले में... चुप्पी किसी न किसी तरीके तो तोड़नी थी। इसलिए दो तीन दिन के अंतराल के बाद फिर प्रचार शुरू हुआ। धूप ने, लोटाछाप वाली एक औरत के उसकी आँच में दाल पकाने की ललकार के मद्देनजर, निकलना छोड़ दिया था। इसलिए विक्रमगंज वाली स्त्री के लाल पसीना नाक तक लेपा जाने का दृश्य नहीं बनता था। फिर भी स्त्री को लगता जैसे वह किसी लाल चीज से आपादमस्तक नहायी बैठी थी और बगैर तौलिए से बदन पोंछने की मोहलत दिये ही, लोग उसे प्रचार में घसीट लाये थे।

अब जब वह किसी सभा में जाकर खड़ी हो जाती तब उसे स्मरण हो आता कि 'समाज का विकास' वाली परची तो घर के आँगन से उड़िया कर कहीं रास्ता भटक गयी थी... लिहाजा वह मिंची मिंची आँखों से बस देखती रह जाती भीड़ को। इस शून्य सी स्थिति में उसके सलाहकारद्वय उस पर हैरान होते..., उसकी एवज में भाषण पूरा करते। वह उन्हीं बातों को इतनी बार बोल चुकी थी कि सलाहकारद्वय क्या, जरूरत पड़ने पर कोई सभा का नियमित श्रोता ही भाषण दोहरा सकता था, ऐसी बारीकी से, कि असल नकल का भेद तक पता न चले।

सभा क्या, किसी के आँगन में औरतों के बीच भी उसका यही हाल था अब। अगर वह शुरू में ऐसे तिरियाचरित्र दिखलाती तो लोग कहते कि स्त्री की जात... है लजकोकर। पर अब! कि..कि..किरण रूप देख लेने के बाद उसका खराब परफॉमेन्स देखना... वह भी ऐन क्लाइमेक्स की पूर्वसंध्या पर... किसी को पच नहीं रहा था उसके दल में। पंडित तो सिर्फ नजरों से उससे आजिज हुआ दिख रहा था पर मेहमान को तो घर के भीतर सार्वजनिक भर्त्सना तक का सहारा लेना पड़ गया। **11** अप्रैल **1954** को भयानक बौखलाहट हुई अपनी पत्नी के इस भोंदिल प्रदर्शन से। अब जबकि अपने

पराये, किस्मत बदकिस्मत... सब एकजुट होकर उसके ऊपर के कलंक को मिटा कर उसे राजयोग दिलाने पर तुल गये थे - यह जन्म की बनमानुषी सब किया कराया मिट्टी करने पर आतुर थी। ऐसे मथसुन्न कैंडीडेट पर कौन वोट बरबाद करेगा आदि आदि...। पर दरअसल वह शख्स ओवरएक्टिंग का शिकार हो रहा था... क्योंकि सभी जानते थे कि इस गाँव में मत का उम्मीदवार से क्या संबंध!!! दरअसल उसकी यह अनर्गल प्रतिक्रिया संभवतः जीवन में पहली बार अपने आप को लक्ष्य के इतना करीब देख पाने की उत्तेजना से उत्पन्न हो रही थी। यह बात दीगर थी कि उसकी प्रतिक्रिया चाहे जैसी बोल्ड हो, पर उन्हें जाहिर करते वक्त वह स्त्री की आँखों से एक खास प्रकार की दूरी जरूर बनाये रख रहा था।

स्त्री सवालिया उँगली के निशाने पर थी। यही सही वक्त था कि अपने अक्स से बाहर निकल दूर बैठ कर अपनी छवि देखी जाये... पहले वाले दिनों की तरह। स्त्री ने मौका गँवाया नहीं। वह लोगों के देखते देखते... अपने शरीर से बाहर निकली और आँगन के खंभे से लग कर बैठ गयी। उसने गरदन मोड़ कर देखा। एक स्त्री बिल्कुल दुबली, हड्डियों का ढाँचा भर... गरदन को वक्ताओं के बोलने की लय पर कभी इधर कभी उधर डुलाती जा रही थी। लोग इस बार भी उसे समझा रहे थे। कोई धमका कर तो कोई सहला कर...। दूर बैठ रहने पर वाकई बहुत कुछ दिख जाता है। पंडित सामने वाली स्त्री को मुखर आरोपकर्ताद्वय के प्रहार से बचा लेना चाह रहा था आँखों ही आँखों में। पर पंडित की ओर ताकना तक उसे एक ठंडेपन से भर दे रहा था और रही लोगों की बात तो शायद कि कोई अपराधबोध ही था..., जो उसे तोहमत लगाने वालों की ओर अभियोगी भाव से देखते जाने पर मजबूर कर रहा था।

उस वक्त, ऐसा कह सकते हैं कि उस स्त्री का सारा ध्यान अपने पति पर केंद्रित था। अपने ब्याहता जीवन में स्त्री ने अपने पति का ऐसा खुला, अपने हिस्से की चीज के लिए आक्रामक, शातिर और भीतर तक जाकर मार करने वाला रूप पहली बार देखा था। निःसंदेह अभी उस पुरुष के वैभव के आगे मेहमान और पंडित या फिर दूर कोने में खड़ी मधुमक्खी के छत्ते की शिकार स्त्री... कच्चे योद्धा साबित हो रहे थे। नकली शस्त्रों से झूठमूठ की टुन टुन आवाज निकालते सहयोगी कलाकार! बस! इतना काफी था स्त्री को धिक्कार मोड़ तक खींच ले जाने के लिए।

उस जैसी स्त्री के लिए तो चुल्लू भर पानी का भी प्रावधान पाप है। आम जन के लिए आबंटित इस कोटे का एक अंश भर मिलना चाहिए इसे उफलाने के लिए। पति इस नाउम्मीदी की उम्र में जग गया है और वही बाधा बनी बैठी है! कैसे भी! कुछ भी! पति

के सम्मान का सवाल था तो जो भी करना पड़े वह करेगी...! चूल्हे में जाये उसका अपना सम्मान या उससे जुड़ी वस्तुएँ। पति की इज्जत बची रहेगी, तब ही किसी भी चीज के होने का मतलब जन्म लेता था। खंभे से टिकी स्त्री अदृश्यावस्था में हाहाकार मचाती उठ खड़ी हुई... उसे दौड़ कर दूर खड़ी स्त्री के भीतर प्रवेश कर पति का बायाँ कंधा बन जाना था बगैर समय गँवाये कि तभी उसे लगा आँगन के कोने में कुछ उड़िया रहा है - गोल मोल तोड़ मरोड़ कर फेंका कुछ... कहीं समाज के विकास की परची... चुनाव प्रचार का आखिरी दिन था। ऐसा लगता था मानो पंजाब की पाँचों नदियों की तर्ज पर गाँव के सारे कुओं में आपाधापी का रंग घोल दिया गया हो। लोगबाग बेतहाशा भाग रहे थे... मेरा तेरा इसका उसका किसका खेमा कौन! अधकचरे दाल वाला पलीता उठाये एक औरत इधर से उधर दौड़ रही थी (एक आवश्यक विषयांतर - लंबी नाक वाले विशेषज्ञों के लोटा जीप के संभावित पैक्ट वाले मंतव्य के धूमिल पड़ जाने के बाद, लोगों के बीच यह बात गहराने लगी थी कि लोटाछाप के इस चरित्र परिवर्तन के पीछे चक्कों के नीचे आयी लाल कार्डधारी बच्ची की भटकती आत्मा का रोल था। मुसमातिन विशेषण वाली स्त्री उसका शिकार भर हो गयी थी। सनद रहे इस प्रकार की आत्माओं के बसेरे के लिए वह एक सुलभ पात्र थी। कारण कि एक बार पूर्व में भी सास की मृत्यु पर कुछ दिनों तक औरत में बहकने के लक्षण देखे गये थे जो ज्यादा भाव न मिल पाने पर कालांतर में दब दबा गये थे)। इधर सिर से लंबा आँचल और दाहिने हाथ में मोबाइल वाली दूसरी स्त्री भी उधर से इधर भाग रही थी। बाकी की ...पिचकी ...खोखली ...प्रागैतिहासिक काल से सीधे मोमबत्ती, चॉकलेट और साइकिल उठाये चली आ रही औरतें भी 'परिणामोपरांत-प्रयास में कमी के अफसोस' के सामूहिक बहिष्कार के मूड में आ चुकी थीं।

इसी असमंजस भरे माहौल में एक खगौलिक घटना घटी... जिसमें दो शत्रु स्वभाव वाले ग्रह एक दूसरे के बिल्कुल करीब से गुजरे। घटना इतनी आकस्मिकता में घटी कि ज्योतिषी वैज्ञानिक उसके प्रभावों का आकलन करने से वंचित रह गये। ढलती शाम का समय था। स्त्री काफिले के साथ निकल रही थी मुसमातिन के गढ़ से... और पतीला लोटा सबके साथ दलमलाती मुसमातिन घुस रही थी घर के भीतर। गजब का... काली बिल्ली के रास्ता काटने जैसा संयोग था दोनों उम्मीदवारों के लिए।

दोनों एक पल के लिए ठिठक गयीं। इस चुनाव को हटा दिया जाये, तो दोनों में शत्रुता तो बहुत दूर की कौड़ी..., ठीक से पहचान तक न थी। मुसमातिन चश्मा घर पर ही भूल आयी थी हड़बड़ीवश। इसलिए उसे मिची मिची आँखों के सिवा ज्यादा कुछ

दिखा नहीं। विक्रमगंज वाली स्त्री को सामने वाली की आँखों में तलाश दिखाई दी। ऐसी अप्रभावशाली आँखें, जो अपने निष्प्रभावी होने को नजरअंदाज कर कुछ तलाश रही थीं... आँच का स्रोत शायद। उसने ज्यादा देख पाने वाली संभावना को स्थगित कर दिया और आँखें फेर लीं नीचे। वहाँ पतीले से उचकता पानी दिखा, जिसमें हल्दी की जगह चूक से चुटकी भर लाल रंग... डाल दिया गया था संभवतः। पगली बुढ़िया!

पगली बुढ़िया! हाँ कोई सनकी ही न सामने सान कर रखे भात दाल के कौर को छोड़ कर धान उपजाने चलेगा अलग से अपने लिए! जब मुसमातिन पहले से थी ही मुख्य मुकाबले में, तो पतीले हांडी का बखेरा खड़ा करके लोगों की नजर में सिरफिरा बनने की बेवकूफी कैसी! शुक्र था कि स्त्री ने सद्यः घटित उस घटना के उपरांत, एक अलग किस्म की रात के छँट जाने के बाद, अपने दिमाग को किसी सनक का शिकार नहीं बनने दिया था। वरना तो बुरी हवाएँ, बुरी नजर, परीक्षा के ठीक पहले दिमागी संतुलन बिगाड़ने का प्रयास करती ही हैं। पर क्या ठीक ठीक दावे के साथ कह सकती थी स्त्री कि वह बेदाग बच गयी थी...

स्त्री घर लौट कर बिस्तर में गिर गयी और उसके बेतरह काँपते शरीर के मद्देनजर उसे 'जाड़ बोखार' नामक बीमारी का शिकार घोषित कर कंबल से ढाँप दिया गया। स्त्री की कँपकँपी ने रफ्तार पकड़ ली। उसके जिस्म में विक्रमगंज के उन मृत परिंदों की आत्माएँ समा गयी थीं, जिनके लिए कभी उसने दिल से प्राथनाएँ की थीं! पुरानी छुअन पुराना साया कोई!

दिलचस्प था कि शरीर में कंपन था और ताप भी, पर जाड़े या बुखार का कोई सुराग न था। लक्षण वही पर रोग अलग। दरअसल स्त्री के लिए जिस चीज से अपने आप को बचा कर रखना जरूरी था इम्तिहान की आखिरी घड़ी तक, स्त्री, उसी का शिकार हो गयी थी। यह अपने आप का सामना करने का और सवालों की खींचतान का मामला था और चूँकि रोगी, आज तक सोचने समझने से खुद को अलगा कर रखने वाली श्रेणी से साबका रखती थी, इसलिए मर्ज की उलझन और गंभीर हो गयी थी।

एक खलबलाती जंग तो छिड़ ही चुकी थी। विक्रमगंज के परिंदों और जगतपुर के इंसानों से शुरू होकर यह जंग देखते देखते इंसानियत और स्त्रीत्व के संघर्ष में तब्दील हो गयी। कहीं से ऐसा नहीं था कि स्वभाव से दोनों एक दूसरे के विरोधी तत्व थे पर समाज और पति-दोनों के विकास के रास्ते जब अलग हो जायें तो पति के तलुवों के निशान के पीछे पीछे चलने की शिक्षा को आँचल में बाँध कर मायके से विदा हुई स्त्रियाँ ऐसे द्वंद्व से ग्रसित हो सकती हैं - ऐसा विधान था। हालाँकि ये

स्थिति दुर्लभ और विशुद्धतः परिस्थितिजन्य थी। कारण कि अक्सर ऐसी स्त्रियों का 'समाज' जैसे शब्द से सामना होता नहीं था। फिर भी... सार यही था कि यह स्त्री इस चक्र में फँस चुकी थी।

उसके तलुवे पसीने में बोथाए पड़े थे और उसकी आँखों के सामने से सारे छोटे बड़े किरदार एक एक कर गुजर रहे थे, अपने सबसे ज्यादा ताली पिटवाऊ संवादों, अदाओं के साथ। स्त्री उन्हें पकड़ना चाह रही थी... पर सबके सब अपने हिस्से का वक्त समाप्त होते ही तटस्थ भाव से नेपथ्य में चले जा रहे थे। स्त्री लाख हाथ पाँव मार रही थी पर अपना पराया कोई भी हाथ आगे नहीं बढ़ रहा था उसकी मदद के लिए। कुछ ही समय में यह स्पष्ट हो गया था कि स्त्री को यह लड़ाई अकेले ही लड़नी थी। हाँ उसकी सहूलियत के लिए बस एक चीज उसके पक्ष में थी कि कंबल के खुरदुरे आवरण ने जाने अंजाने स्त्री को इतना स्पेस दे दिया था कि वह मेकअप और कॉस्ट्यूम उतार कर चंद लम्हे ही सही, अपने आप को घिरता, मदद माँगते, निहत्था होते और लड़ते हुए महसूस कर सके!

रात का रंग दूधिया चमक लिए था। हर ओर चुभने वाला उजियारा। यही कारण था कि नीचे धरती पर चलते व्यापार की स्याही साफ साफ दिखायी पड़ रही थी। मधुमक्खी के छत्ते की शिकार स्त्री और उसके पति के बीच एक मंत्रणा चल रही थी, जिसके तहत **11** अप्रैल **1954** के हालिया प्रकाश में आये पराक्रमी रूप का अपने हक में इस्तेमाल करना था। विक्रमगंज वाली की जीत तय थी और यह भी तय था कि जीत की स्थिति में विक्रमगंज वाली पीछे छूट जाने वाली थी और उसका पति दृश्य पर छा जाने को तैयार था। मधुमक्खी के छत्ते की शिकार स्त्री जानती थी कि उसके भाई के खोखले स्वभाव के मद्देनजर उसे चढ़ा कर उससे कोई भी काम निकलवा लेना आसान था। ऐसे में इनकी रणनीति विक्रमगंज वाली और उसके पति को दो खेमे में बाँट देने की थी। यहाँ से आगे हर हालात में औरत अपने भाई का साथ देती, उसकी हर ना हाँ में और उसका पति विक्रमगंज वाली का साथ देता। साथ देते देते कैसे एड़ी से पहुँचे तक का सफर तय करना है... इसके लिए किसी रणनीति की जरूरत नहीं थी। दोनों इस कला में मँजे हुए थे...

11 अप्रैल **1954** को बहुत तेज नशे की लत हो रही थी। ऐसा नहीं था कि चुनाव की गहमागहमी और इससे भी बढ़ कर किसी चूक के हो जाने की आशंका में बिल्कुल भी मौका हाथ न लगा हो। अभी अभी पिछले दिनों, जब एक व्यवधान आ गया था प्रचार में और वह खासे तनाव में था तब जीप के मालिक के साथ एकाध ग्लास चढ़ाने का

मौका लगा था। लेकिन अपनी प्यास भर पिये जमाना हो गया था। पर इतनी कुर्बानी का स्कोप तो बनता था, कारण कि 'बरसात' का मौसम दस्तक दे रहा था! गाजा बाजा जुलूस माला... बस शुरुआत से एक कदम दूर था वह। शुरुआत, अपनी जन्मतिथि के साथ हुई नाइंसाफी को बदल देने की, भले गाँव के इतिहास में ही सही!

महापर्व का स्थानीय संस्करण। छह बजते बजते गाँव की सारी दिनचर्या प्राइमरी स्कूल के ऊबड़खाबड़ ग्राउंड में सिमट गयी। सारे पात्र सुंदर सजधज में उपस्थित थे। एक्जिट पोल का भी दबा छिपा इंतजाम था। भीतर का वार्ड मेंबर पंडित का अपना आदमी था। 'मोतियों की माला' को जीत दिलाने का काम अब कोई मुश्किल नहीं था..., पर प्रजातंत्र में सरप्राइज फैक्टर भी कोई चीज होती है!

चुनाव की एक औपचारिकता के तहत उम्मीदवार को भी अपना मत दर्ज कराना था। कोई औरत... इस गाँव की या... पीछे छूट चुके गाँव की... याद नहीं कहाँ की, पर कोई तो औरत... नयी पुरानी... किस्से कहानी बतकही की या कि सच की..., कहती थी कि इनसान एक - अकेला स्वतंत्र दिखता जरूर है पर दरअसल उसके भीतर कई कई साये होते हैं जो अपने अपने हिसाब से उसकी आजादी को काबू करते हैं। यह वक्त तय करता है कि कौन सा साया कब दूसरे सायों को लील जायेगा और किस दिशा में आदमी का मुस्तकबिल तय करेगा! यह सब अभी बेमौके याद आने का तुक इसलिए बनता था क्योंकि धूप का घेरा स्त्री पर कुछ इस तरह पड़ रहा था कि एकबारगी उसे अपनी एक से ज्यादा परछाइयाँ दिख गयी थीं। एक दूसरे को लीलने को आतुर साये। तो क्या वक्त के हाथों से संचालित होता रोशनी का घेरा यह तय करने वाला था कि स्त्री का कौन सा साया दूसरों पर भारी पड़ने वाला था! इतना प्रखर कि स्वयं स्त्री भी उसके सामने बौनी लगे।

'कि..कि..किरण' भीतरी कक्ष में प्रवेश कर चुकी थी। एक पीला बल्ब जल रहा था प्राइमरी स्कूल के उस एकमात्र क्लासरूम में। बाहरी प्रकाश का कोई स्रोत न था और कमरे की दीवारों पर पूरी की पूरी मनोहरपोथी... सुंदर लिखावट में उकटी पड़ी थी। दो दीवारों पर हिंदी के वर्ण अपने से बनने वाले शब्दों के चित्र समेत और दो दीवारों पर अंग्रेजी के वर्ण। किनारे की जगहों पर मात्र तीन तक के अंक। अगर कहीं मास्टर की आँखें लग गयीं तो भी बच्चे झूम झूम कर पढ़ सकें... इसके पूरे इंतजामात स्कूल की तरफ से।

उस कमरे में दाखिल होते ही स्त्री को ऐसा लगा, मानो उस रात के बाद से... एक बार फिर, वह आजाद हो गयी हो... किताब के पन्नों से फुदक कर बाहर सामने पसरे वर्णों की तरह। उसे लगा जैसे वह खुल कर साँस ले पा रही हो... अरसे बाद! ये फुदकते वर्ण... उसके बचपन के दोस्त। उसे बेइंतिहा खुशी हुई कि वह उन्हें पढ़ सकती है। पाँचों उँगलियाँ थीं उसके पास... साबूत पाँचों उँगलियाँ.. जिसे वह विरासत में दे सकती थी। किसने कहा कि जिसका वारिस न हो वे वसीयत नहीं छोड़ सकते! उसने मुट्ठी बंद कर ली पाँचों उँगलियों को समेट कर।

सब कुछ अच्छा चल रहा था कि उसकी नजरें 'ल' वर्ण के लोटा पर पड़ गयीं और जीप के चार चार चक्के उसके सीने पर से धड़धड़ाते गुजर गये। उसने पहली प्रतिक्रिया में अपनी बंद मुट्ठी को परखा और उसे लगा कि उसकी पाँचों की पाँचों उँगलियाँ गुलाम थीं दरअसल! जंजीरों में जकड़ी हुई।

उसके नाम की आखिरी पुकार हुई। तफतीश की औपचारिकता। अपने वजूद की सचाई जान लेने के बाद मुट्ठी के बँधे रहने का औचित्य समाप्त हो गया था और उँगलियाँ बिखर कर खुल चुकी थीं। उसके दायें हाथ में मुहर थी और बायें में एक परची। बरसों बाद एक इम्तिहान सामने था। कक्षा नौ के बाद का पहला इम्तिहान। दरअसल यह अब तक के सारे पाठ का इम्तिहान था... वे पाठ जो गुरुओं ने पढ़ाये... वह पाठ जो जिंदगी ने पढ़ाया... सबका इम्तिहान! कहने के लिए एकांत में किया जाना था मतदान, पर उसे सारे वर्णों की उपस्थिति में... दो में से एक को चुन लेना था... गुलाम पाँच उँगलियों को कि आजाद एक अँगूठे को...!

कमरे के सन्नाटे में सेंधमारी हुई और रोशनदान के रास्ते एक जोड़ी भर फड़फड़ाहट दाखिल हुई। स्त्री ने अचरज से देखा - कमरे में घुमड़ती अकुलाहटों को, जो निश्चय ही रास्ता भटक कर घुप्प कमरे में कैद हो गयी थीं और यहाँ से आगे जिन्हें खुले आसमान तक पहुँचने वाली खिड़की की तलाश थी। उनकी उमड़घुमड़ को देख कर स्त्री को तसल्ली हुई इस बात की कि अच्छा हुआ प्राथमिक विद्यालय के कमरे, हवा के लिए प्राकृतिक माध्यम पर ही निर्भर थे और कमरे की छत पर पंखे की जगह अभी भी खाली थी। वरना तो बिजली से चलने वाले डैनों से यदि इन खोजी पंखों की भिड़ंत होती तो एक बार फिर लाल छींटों वाले परिंदे ही दिखते उसे। स्त्री ने व्याकुल होकर चारों तरफ देखा। सुरक्षा कारणों से खिड़कियाँ बंद थीं सारी। दरवाजा भी। पर रास्ता तो उसे खोजना ही था। आगे का...। उसने हाथ बढ़ा कर भरोसा देना चाहा उन

अकुलाये आगंतुकों को... कि इस दफे स्त्री के पास उनके लिए सिर्फ बुदबुदाहट भर प्रार्थना ही नहीं है!

चुनाव उम्मीदवारों को संविधान द्वारा प्रदत्त मतदान के अधिकार के माथे से 'औपचारिकता' के ठप्पे को मिटा देने का वक्त आ चुका था। नेपथ्य में यह असमंजस था कि सामने का दृश्य आखिरी साबित होने वाला था कि दरअसल, आरंभिक। उहापोह के बावजूद ठोस आकलन के मद्देनजर, नेपथ्य से मोतियों की माला की जयजयकार की धुन आती गयी। पार्श्वसंगीत भले पूर्वनिर्धारित था पर दृश्यविधान, किसी तयशुदा डोर से अपने आप को विलगा चुके थे। ऊपर दीवार की मनोहरपोथी से अपने आप को टकराते पंख थे और नीचे एक स्त्री थी, जिसके सामने परची थी... मुहर थी... स्याही थी। स्त्री का दायाँ हाथ आगे बढ़ा... लोटे की तरफ। बगैर कँपकँपाये स्त्री ने पराधीन पाँच उँगलियों के विकल्प को लाँघ कर, आजाद अँगूठे के बीचोंबीच अपनी मुहर लगा दी।